विनोबाके विचार

[दूसरा भाग]

•

१९५७

सत्साहित्य प्रकाशन

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय,
मंत्री सस्ता साहित्य मंडल,
नई दिल्ली

पांचवीं बार १९५७
मूल्य : डेढ़ रुपया

मुद्रक
इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस, इलाहाबाद

प्रकाशकीय

आचार्य विनोबाके नाम और उनके भूदान-आदोलनसे हमारा देश ही नही, सारा ससार अब परिचित होगया है। लेकिन जब वह सन १६४१ मे व्यक्तिगत सत्याग्रहके प्रथम सत्याग्रहीके रूपमें देशके सामने आये थे तब उनकी ख्याति महाराष्ट्र और गुजरातके बाहर बहुत कम थी। परतु उनके विचार इतने प्रौढ और इतने परिपक्व थे कि वे पाठकोंके लाभार्थ उपस्थित किये जा सकते थे। अत व्यक्तिगत सत्याग्रह-के समय 'मडल'ने उनके विचारोका पहला भाग प्रकाशित किया। कहनेकी आवश्यकता नही कि उन विचारोकी मौलिकता, सात्विकता तथा लोक-कल्याणकी भावनाने तत्काल पाठकोका ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया। पुस्तककी माग बढी और अबतक उसके आठ सस्करण हा चुके हैं।

यह भी माग होने लगी कि उस पुस्तकका दूसरा भाग प्रकाशित किया जाय। फलस्वरूप यह भाग निकाला गया। हमें यह कहते हुए हर्ष होता है कि इस पुस्तकके अबतक पाच सस्करण हो चुके हैं। इस समय तक विनोबाजीका और बहुत सा साहित्य प्रकाशित हो चुका है, फिर भी इस पुस्तककी माग बराबर बनी हुई है। आगे और भी बढेगी, ऐसी हमारी आशा है।

—मत्री

विषय-सूची

●

विनोबाके विचार

दूसरा भाग

: १ :

जीवनकी तीन प्रधान बातें

अपने जीवनमें तीन बातोंको प्रधान पद देता हू। उनमें पहली है उद्योग। अपने देशमें आलस्यका भारी वातावरण है। यह आलस्य बेकारीके कारण आया है। शिक्षितोंका तो उद्योगसे कोई ताल्लुक ही नही रहता। और जहा उद्योग नही वहा सुख कहा? मेरे मतसे जिस देशमे उद्योग गया उस देशको भारी घुन लगा समझना चाहिए। जो खाता है उसे उद्योग तो करना ही चाहिए, फिर वह उद्योग चाहे जिस तरहका हो। पर विना उद्योगके बैठना कामकी बात नही। घरोमे उद्योगका वातावरण होना चाहिए। जिस घरमे उद्योगकी तालीम नही है उस घरके लडके जल्दी ही घरका नाश कर देगे। ससार पहले ही दुखमय है। जिसने ससारमे सुख माना है उसके समान भ्रममे पडा और कौन होगा? रामदास-जीने कहा है—"मूर्खामाजी परम मूर्ख। जो ससारीं मानी सुख"॥ अर्थात् वह मूर्खोंमें भारी मूर्ख है जो मानता है कि ससारमें सुख है। मुझे जो मिला दु खकी कहानी सुनाता ही मिला। मैंने तो कमी से यह समझ लिया है और बहुत विचार और अनुभवके बाद मुझे इसका निश्चय होगया है। पर ऐसे इस ससारको जरा-सा सुखमय बनाना हो तो उद्योगके सिवाय दूसरा इलाज नही है, और आज सबके करने लायक और उपयोगी उद्योग सूत-कताईका है। कपडा हरेकको जरूरी है और प्रत्येक बालक, स्त्री, पुरुष

सूत कातकर अपना कपडा तैयार कर सकता है। चर्खा हमारा मित्र बन जाएगा, शांतिदाता हो जाएगा—बशर्ते कि हम उसे सभालें। दुःख होने या मन उदास होने पर चर्खेको हाथमे ले लें तो फौरन मनको आराम मिलता है। इसकी वजह यह है कि मन उद्योगमें लग जाता है और दु ख बिसर जाता है। गेटे नामक एक कविका एक काव्य है, उसमे उसने एक स्त्रीका चित्र खीचा है। वह स्त्री बहुत शोक-पीडित और दुखित थी। अतमें उसने तकली सभाली। कविने दिखाया है कि उसे उस तकलीसे सात्वना मिली। मैं इसे मानता हू। स्त्रियोंके लिए तो यह बहुतही उपयोगी साधन है। उद्योगके बिना मनुष्यको कभी खाली नही बैठना चाहिए। आलस्यके समान शत्रु नही है। किसीको नीद आती हो तो सो जाय, इसपर मैं कुछ नही कहूगा, लेकिन जाग उठने पर समय आलस्यमें नही बिताना चाहिए। इस आलस्यकी वजहसे ही हम दरिद्री होगए है, परतन्त्र हो गये है। इसलिए हमें उद्योगकी ओर झुकना चाहिए।

दूसरी बात जिसकी मुझे धुन है, वह भक्तिमार्ग है। बचपनसे ही मेरे मनपर यदि कोई सस्कार पडा है तो वह भक्तिमार्गका है। उस समय मुझे मातासे शिक्षा मिली। आगे चलकर आश्रममें दोनों वक्तकी प्रार्थना करनेकी आदत पड गई। इसलिए मेरे अदर वह खूब हो गई। पर भक्तिके मानें ढोग नही है। हमें उद्योग छोडकर झूठी भक्ति नही करनी है। दिनभर उद्योग करके अन्तमें शामको और सुबह भगवानका स्मरण करना चाहिए। दिनभर पाप करके, झूठ बोलकर, लबारी-लफ्फाजी करके प्रार्थना नही होती। वरन् सत्कर्म करके दिन सेवामे बिता करके वह सेवा शामको भगवानको अर्पण करनी चाहिए। हमारे हाथो अनजाने हुए पापोको भगवान क्षमा करता है। पाप बन आवे तो उसके लिए तीव्र पश्चात्ताप होना चाहिए। ऐसोके पाप ही भगवान् माफ करता है। रोज १५ मिनट ही क्यो न हो, सबको—लडकोको, स्त्रियोंको—इकट्ठे होकर प्रार्थना करनी चाहिए। जिस दिन प्रार्थना न हो वह दिन व्यर्थ गया समझना चाहिए। मुझे तो ऐसा ही लगता है। सौभाग्यसे मुझे अपने आस-

पास भी ऐसी ही मडली मिल गई है। इससे मैं अपनेको भाग्यवान मानता हू। अभी मेरे भाईका पत्र आया है। बाबाजी उसके बारेमें लिख रहे है कि आजकल वह रायचदभाईके ग्रथ पढ रहे हैं। उन्हें उस साधुके सिवाय और कुछ नही सूझ रहा है। इधर उसे रोगने घेर रक्खा है, पर उसे उसकी परवा नही है। मुझे भाई भी ऐसा मिला है। ऐसे ही मित्र और गुरू मिले। मा भी ऐसी ही थी। ज्ञानदेवने लिखा है कि भगवान कहते हैं—मैं योगियोंके हृदयमे न मिलू, सूर्यमे न मिलू और कहीं भी न मिलू, तो जहा कीर्तन-नाम-घोष चल रहा है वहा तो जरूर ही मिलूगा। लेकिन यह कीर्तन कर्म करके, उद्योग करनेके बाद ही करनेकी चीज है। नहीं तो वह ढोंग हो जायगा। मुझे इस प्रकारके भक्तिमार्गकी धुन है।

तीसरी एक और बातकी मुझे धुन है, पर सबके काबूकी वह चीज नही हो सकती। वह चीज है खूब सीखना और खूब सिखाना। जिसे जो आता है वह उसे दूसरेको सिखाए और जो सीख सके उसे वह सीखे। कोई बुड्ढा मिल जाय तो उसे सिखाए। भजन सिखाए, गीता पाठ करावे, कुछ-न-कुछ जरूर सिखाए। पाठशालाकी तालीम पर मुझे विश्वास नहीं है। पांच-छ घट बच्चोंको बिठा रखनेसे उनकी तालीम कभी नही होती। अनेक प्रकारके उद्योग चलने चाहिए और उसमें एक आध घटा सिखाना काफी है। काममेंसे ही गणित इत्यादि सिखाना चाहिए। क्लास इस तरहके होने चाहिए कि एक पैसा मजदूरी मिली तो उसे पहला दर्जा और उससे ज्यादा मिली तो दूसरा दर्जा। इसी प्रकारसे उन्हें उद्योग सिखाके उसीमें शिक्षण देनी चाहिए। मेरी मा 'भक्ति-मार्ग प्रदीप' पढ रही थी। उसे पढना कम आता था, पर एक-एक अक्षर टो-टोकर पढ रही थी। एक दिन एक भजनके पढनेमें उसने १५ मिनट खर्च किए। मैं ऊपर बैठा था। नीचे आया और उसे वह भजन सिखा दिया। और पढाकर देखा, पद्रह-बीस मिनटमें ही वह भजन उसे ठीक आ गया। उसके बाद रोज मैं उसे कुछ देर तक बताता रहता था। उसकी वह पुस्तक पूरी करा दी। इस प्रकार जो-जो सिखाने लायक हो वह सिखाते रहना चाहिए और सीखते भी रहना चाहिए।

पर सबसे बन आनेकी बात नहीं है। पर उद्योग और भक्ति तो सबसे बन आ सकती हैं। उन्हें करना चाहिए और इस उद्योगके सिवाय मुझे तो दूसरा सुलभ उपाय नहीं दिखाई देता है।[1]

२

ऋषि-तर्पण

मनुष्य देव और पशुके बीचों-बीच खड़ा है। एक तरहसे वह उनके बीचकी संधि है या उन्हें जोड़नेवाली कड़ी है। यह अनुभव पग-पगपर होता है कि अगर वह चाहे तो पशुसे भी पशु बन सकता है। लेकिन, थोड़ा ही क्यों न हो, संसारको यह भी अनुभव है कि वह अगर इच्छा करे तो उसके अंदर देव बननेकी शक्ति भी मौजूद है। 'नरका नारायण' होना असंभव नहीं है। यह बात आजतक अनेक महापुरुष अपनी कृतिसे दुनियाको दिखा चुके हैं।

आधुनिक समयका इसी तरहका एक उदाहरण लोकमान्य तिलकका है। जो मनुष्य अपने कर्तव्यका पालनकर देव-कोटिमें प्रतिष्ठित होते हैं, उन्हें वेदोंने 'कर्मदेव' की पदवी दी है। यह पदवी तिलकने हम सबके देखते-देखते प्राप्त की है। उस प्रसंगका स्मरण तो अब भी ताजा है। पर सिर्फ स्मरण काफी नहीं है। स्मरणके साथ अनुकरण भी होना चाहिए।

आकाशके अवकाशमें अगणित तारे भरे पड़े हैं। दूरबीनके बिना खाली आंखोंसे उन सबके दर्शन नहीं हो सकते। दूरबीनसे भी सबके दर्शन तो होते ही नहीं। लेकिन खाली आंखोंसे ओझल रहनेवाले कुछ सूक्ष्म तारे उसके द्वारा दर्शन दे देते हैं। जीवन भी आकाशके समान पोला प्रतीत होता है। लेकिन यह पोला-सा प्रतीत होनेवाला जीवन अनंत ठोस सिद्धांतोंसे भरा हुआ है। केवल बुद्धिके द्वारा उनमेंसे बहुत ही थोड़े सिद्धांत ग्रहण किए

---

[1] पवनारमें (२० दिसंबर, १९३५ को) सायं-प्रार्थनाके बाद दिए गए एक प्रवचन की रिपोर्ट।

जा सकते हैं। परंतु तपस्याकी दूरबीन लगानेसे कुछ सूक्ष्म सिद्धांत प्रकट होने लगते हैं। इस तरहका कोई नया तत्व जो देख पाया हो उसे मंत्र दर्शन हुआ ऐसा कह सकते हैं। उसीको ऋषि कहते हैं। ऋषि शब्दका मूल अर्थ है 'मंत्रद्रष्टा'—मंत्र देखनेवाला। यह कथा प्रसिद्ध है कि विश्वामित्र ऋषिने कठिन तपस्याके द्वारा गायत्री मंत्र प्राप्त किया। तिलक महाराज भी वर्तमान युगके इसी तरहके एक ऋषि थे। कारण, उन्होंने भी तपस्या की, उन्होंने भी मंत्र प्राप्त किया। यह कौन-सा मंत्र है? वह है, **"स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है, और मैं उसे लेकर रहूंगा।"** इस मन्त्रका उच्चार तो हमने खूब किया है। लेकिन केवल उच्चार काफी नहीं है। उच्चारके साथ-साथ आचार भी चाहिए।

तिलकने यह भी बतला दिया है कि इस आचारकी नीति क्या हो? उनके लिए यह अनिवार्य भी था। कारण, उनका यह मत था कि केवल सिद्धांतका निरूपण कर देना पर्याप्त नहीं है। उसके साथ-साथ उसका उपयोग कहां और कैसे किया जाना चाहिए, आदि बातें भी ब्यौरेवार बताना आवश्यक है। इसलिए केवल उक्त मंत्र बतानेसे ही उन्हें संतोष नहीं हुआ। उस मंत्रका भाष्य भी उन्होंने स्वयं लिखा है। शंकराचार्यने कहा है कि भगवान्‌ने गीताके द्वारा अर्जुनके बहाने सारे जगत्‌को उपदेश दिया। उसी तरह तिलकने अपने 'गीता रहस्य'में गीताके निमित्तसे उक्त मंत्रकी व्याख्या की है। लेकिन यह बात हमारे ध्यानमें नहीं आई। इसलिए गीता-रहस्यका गीताके श्लोकोंसे सामंजस्य करनेका व्यर्थका झंझट हमने खड़ा किया और नाहक उलझनमें पड़ गये। गीता-रहस्य पूर्वोक्त-स्वराज्य मंत्रका रहस्य है, इस बातको ध्यानमें रखनेसे हम गीता-रहस्यका अर्थ समझ सकेंगे। किंतु केवल समझना ही पर्याप्त नहीं है। समझनेके साथ-साथ हमारा कर्तव्य क्या है, यह भी दिखाई देना चाहिए।

२

"स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध हक है" यह हुआ अधिकारवाला अंश। इसीमें 'और मैं उसे प्राप्त करूंगा' यह कर्तव्यात्मक अंश जोड़ दिया गया है।

ज्ञान और कर्मकी जोडी हरगिज नही टूटनी चाहिए।" आजतक समझदारी और कारगुजारीकी एक-दूसरेसे जान-पहचान भी नही थी। एकका मुह पूरबको था तो दूसरीका पश्चिमको। इसलिए स्वराज्यके दर्शन नही हुए। समझदारी कारगुजारीका स्पर्श गवारा नही कर सकती थी।" "इस अस्पृश्यताके दूर होते ही स्वराज्य आपके पास ही है"—यह कथन कितना यथार्थ है! आज बूढ़ोका अनुभव और जवानोका उत्साह अलग-अलग हो गए हैं। स्त्रियाकी समझदारी और पुरुषोकी कारगुजारी बिछुड गई है। ब्राह्मणोके शास्त्र और अब्राह्मणोकी कलाके बीच दरार पड गई है। हिंदुओकी नीति-निपुणता और मुसलमानोके जोशमे मेल नही रहा। अंग्रेजोकी सभ्यता और अत्यजोकी सेवाका आपसमें लगाव नही है। भिक्षुकके धर्म और गृहस्थके कर्मका मेल नही रहा। कहना न होगा कि अगर हम यह अवस्था सुधार सके—ज्ञान और कर्मका समुच्चय साध सकें—तो स्वराज्य हमारे हाथमें है।

पुराने इतिहासमे महाराष्ट्रने स्वराज्यका बडा भारी आदोलन किया था। उस आदोलनके नेताओने भी इसी बातपर जोर दिया था, जिसका प्रतिपादन लोकमान्यने गीतारहस्यमें किया है। **'चित्ती नाम हाती काम'** (मनमें राम, हाथमें काम)—यह था उस आदोलनका सिद्धात वाक्य। गोरोबा (कुम्हार जातिके एक श्रेष्ठ सत) नेताओंके गुरू माने जाते थे। इतनी उनके ज्ञानकी ख्याति थी। लेकिन कच्चे घडे पका-पकाकर पक्के बनानेका उनका कारखाना कभी बद नही हुआ। सेना नाई भी आदोलनके एक महान सेनापति थे। तो भी सिरपरका मैल उतारकर दर्पण दिखानेका उनका काम बराबर जारी था। नामदेव (दर्जी) को तो आदोलनका प्राण ही कहना चाहिए। भगवान नामदेवका नाम जितना जपते, उतना भगवानका नाम नामदेव शायद न जपते रहे होगे। लेकिन फिर भी फटे हुए (वस्त्र) सीनेका उनका कुलव्रत अबाधित रूपसे चलता रहा। और ऐसा था, इसीलिए उस वक्त महाराष्ट्रको, कुछ दिनके लिए, स्वराज्यके दर्शन हुए।

जब 'ज्ञानी' कहलानेवाले लोग कर्मसे डरने लगते हैं, या कर्म करनेमें शरमाने लगते हैं, तब राष्ट्रके पतनका आरंभ होता है। यह नियम गिबनने रोमके इतिहासमें लिखकर रखा है, और हमारे यहांके सारे संतों, कवियों और आचार्योंने यही बात एक स्वरसे कही है। "जो कर्मको छोटा समझ चलते हैं, वे गंवार हैं, ज्ञानी नहीं।" यह वाक्य तो ज्ञानियोंके राजा ज्ञानेश्वर खुद कह गए हैं। और "मैं पहलेके संतोंकी राह पूछता हुआ बोल रहा हूं", यह गवाही उन्होंने दी है। तिलक भी वही बात कहना चाहते थे। लेकिन उन्हें कुछ ऐसा मालूम हुआ कि इस सिद्धांतके प्रतिपादनमें वह अकेले पड़ गए हैं, उनका कोई सहायक नहीं है। इसी धारणाके कारण उन्होंने खीझ-खीझकर बड़े आवेशसे अपने मतका प्रतिपादन किया है। इसके लिए जिम्मेवार कौन है? —गुलाम लोगोंका बावला संसार और दुर्बल परमार्थ।

३

सच तो यह है कि ज्ञान न तो कर्मसे डरता है, न उसे अपनी ज्ञानके खिलाफ समझता है। यह नियम सामान्य ज्ञान परही नहीं, ब्रह्मज्ञानपर भी घटित होता है। मनुष्य जितना ज्ञानमें घुल गया हो, उतना ही वह कर्मके रंगमें रंग जाता है। यह सच है कि ज्ञान उदय होतेही कर्मका झंझट अस्त हो जाता है। लेकिन कर्मके झंझटके अस्त होनेके माने कर्मका ही अस्त होना नहा है। उसका अर्थ है कि कर्म सहज हो जाता है। आइए हम कुछ ज्ञानियोंकी ही गवाही लें।

पहली गवाही श्रीकृष्णकी लें। वह कहते हैं, "मनुष्यके चित्तमें ज्ञानका उदय होते ही मैं तत्क्षण अस्त हो जाता है। इसीलिए लोगोंके लिए सहानुभूति पैदा हो जाती है और साहस तथा उत्साहकी किरणोंके फूट पड़नेके कारण भय और लज्जाका प्रश्न ही नहा रह जाता। ऐसी अवस्थामें ज्ञानी दुगुने जोरसे कर्म करने लगता है। भूतदयाके कारण उसका शरीर लावसंग्रहमें अभ्यस्त हो जाता है।" इस सिलसिलेमें उन्होंने महाराजा जनकका

पुराना उदाहरण दिया है और अपने अनुभवसे उसकी पुष्टि की है। इसके अतिरिक्त यह टिप्पणी और जोड दी है कि यदि श्रेष्ठ पुरुष कर्म नही करेंगे तो साधारण लोगोको पदार्थ-पाठ नही मिलेगा।

दूसरी गवाही आचार्य (शंकराचार्य) की। वह कहते हैं, "संसारके कर्मोके विषयमे यह कहा गया है कि ज्ञानकी अग्निके सुलगते ही कर्म भस्म हो जाते हैं। परमार्थके कर्मपर वह लागू नही होता। पारमार्थिक कर्मोके आचरणसे ही तो मनुष्यको ज्ञान प्राप्त होता है। यानी परोक्ष रूपसे इस कर्मकी कोखसे ही ज्ञानका जन्म होता है। अत वह कर्म ज्ञानके लिए माताके समान है। ऐसी दशामे अगर इस कर्मपर भी ज्ञान हथियार उठाए तो उसे मातृ-हत्याका पातक लगेगा। इसलिए साधकावस्थामे शुरू किया गया 'प्रारब्ध' कर्म ज्ञान हो जानेके पश्चात् भी शेष रह जाता है।" इसका स्पष्टीकरण करते हुए उन्होने यह व्यावहारिक दृष्टात दिया है कि मटका तैयार हो जानेपर भी कुम्हारका चाक कुछ देरतक घूमता रहता है।

तीसरी गवाही समर्थकी। वह कहते है, "साधकको ज्ञानका 'रहस्य' प्राप्त हो जाता तो भी वह पूर्ववत् ही यत्न करता रहता है, क्योकि इसका क्या ठिकाना है कि इस रहस्यको भी जग न खा जाय ? ऐसा सोचकर वह अपने ज्ञानको सत्कर्मसे माजता रहता है। इसलिए उसको जग लगनेका डर नही रहता। खूटेको हिला-हिलाकर खूब मजबूत कर देनेके लिए ज्ञानी सावधान वृत्तिसे अपनी उपासना जारी रखता है और आखीरतक सत्कर्म करता रहता है।"

चौथी गवाही तुकोबाकी। वह कहते हैं, "कोई आदमी पहले गावका ज्योतिषी था। हाथीने उसके गलेमे माला पहना दी। इससे बेचारा राजा होगया। फिर भी उसका पत्रा (पचाग) नही छूटता था।" ज्ञानी मनुष्यकी हालत भी इस राजाके जैसी होती है। उसकी भी साधकावस्थामे पडी हुई आदत कभी कैसे छूटे ? अपनी कथनकी पुष्टिके लिए उन्होने अपना ही अनुभव पेश किया है। "मै केवल 'तुका' था। बादमे सतोकी सगतिसे भजनका चस्का लग गया। आज मै 'राम' हो गया हू, लेकिन मेरा

भजन बंद नही होता। मूल स्वभाव नष्ट नही होता, तो इसे मैं क्या करूं?"

४

खैर। बड़े-बड़े आदमियोंके फेरमें पड़कर हमने बहुत बड़ी-बड़ी बातें की। ये बातें हमारे अधिकारके बाहरकी हैं। बहुतोंकी तो समझमें भी नहीं आयेगी। लेकिन कोई हर्ज नहीं। जो आज समझमें नही आती, कल आने लगेगी। संतोंकी कृपासे हमारा अधिकार भी धीरे-धीरे बढ़ेगा। और फिर, ऐसी बात जब-तब कानोंमें पड़ा करे तो कोई नुकसान नहीं है। हैसियत न होनेपर भी लोग साहूकारसे कर्ज लेकर त्यौहार तो मनाते ही हैं। उसी प्रकार लोकमान्यकी पुण्यतिथिके दिन हमने भी संतोंके चरणोंमें भीख मांगकर चार टुकडे जुटा लिये तो इसमें कोई गलती नही की। ऐसा न करें तो गरीबोंको पकवानके दो कौर भी खानेको कब मिलेंगे? इसके सिवा, हमने ऋण साहूकारसे नहीं लिया है, संतोंसे लिया है। इसलिए हम सुरक्षित हैं। संत हमें तबाह कर देंगे, इसका डर तो है ही नहीं। अगर सवाल है तो इतना ही कि क्या हम यह पकवान पचा सकेंगे?

'महाराष्ट्र-धर्म' : १६ जुलाई, १९२४

: ३ :

निवृत्त-शिक्षण

फ्रांसकी राज्यक्रांतिके इतिहासमें रूसो और वाल्टेर नामक ग्रंथकारोंके नाम बहुत प्रसिद्ध हैं। इन ग्रंथकारोंकी भाषा, विचारशैली तथा लेखन-पद्धति तेजस्वी, जीवंत और क्रांतिकारक है। लोगोंमें जितनी धाक इनकी लेखनीकी थी, उतनी बड़े-बड़े बलवान राजाओंके शस्त्रबलकी भी नहीं थी। फ्रांसकी राज्यक्रांति इनके लेखकोंका मूर्ध, परिणाम थी। इन दोनों लेखकोंमेंसे रूसो विशेष भावनाप्रधान था। लेख लिखनेके लिए उसने कभी भाषा-

शास्त्रका अध्ययन नहीं किया था। उसके विचार उसके हृदयमें समाते नहीं थे, बाहर निकलनेके लिए छटपटाते और धक्के देते थे। ज्वालामुखी पर्वत के जलते हुए रसकी भाँति, बल्कि उससे भी बढ़कर, दाहक होते थे और उसकी इच्छाके विरुद्ध—'अनिच्छन्नपि'—बाहर निकलते थे। उसके लेखो द्वारा उसका हृदय बोलता था। और इसीलिए उसके लेख चाहे बौद्धिक या तार्किक कसौटीपर खरे भले ही न उतरें, तो भी परिणामतः वे धधकती आगके समान होते थे, यह इतिहासको भी मानना पडा। 'मृतजीवनकी अपेक्षा जीवित मृत्यु श्रेयस्कर है'—उसके लेखका यही एक सूत्र था। ऐसे प्रभावशाली, प्रतिभावान लेखकके शिक्षण-विषयक मतोंका मननपूर्वक विचार करना हमारा कर्तव्य है।

रूसोके मतानुसार शिक्षणके तीन विभाग करने चाहिए—(१) निसर्ग-शिक्षण, (२) व्यक्ति शिक्षण और (३) व्यवहार-शिक्षण।

शरीरके प्रत्येक अवयवका सपूर्ण और व्यवस्थित विकास होना, इंद्रियांका चपल, फुर्तीली, कार्यपटु बनना, विभिन्न मनोवृत्तियोंका सर्वांगीण विकास होना, स्मृति, प्रज्ञा, मेधा, धृति, तर्क इत्यादि बौद्धिक शक्तियोंका प्रगल्भ और प्रखर बनना—इन सबका समावेश उसके मतसे निसर्ग-शिक्षणमें होता है। दूसरे शब्दोंमें, मनुष्यकी भीतरी शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक वृद्धि आत्मविकास—निसर्ग शिक्षण है। मनुष्य को बाह्य परिस्थितिमेंसे जो ज्ञान प्राप्त होता है, व्यवहारमें जो अनुभव होता है, उस सब पदार्थ-विज्ञानको या भौतिक जानकारीको उसने व्यवहार-शिक्षण नाम दिया है। और निसर्ग-शिक्षणसे होनेवाले आत्मविकासका ज्ञानकी दृष्टिसे बाह्य जगत्‌में कैसे उपयोग किया जाय, इस सबधमें दूसरे मनुष्योंके प्रयत्नसे जो वाचिक, साम्प्रदायिक अथवा शालेय (पाठशालामें मिलनेवाला) शिक्षण मिलता है, उसे उसने व्यक्ति शिक्षण सज्ञा दी है। अर्थात् व्यक्ति-शिक्षण उसकी दृष्टिसे व्यवहार-शिक्षण और निसर्ग-शिक्षणको जोड़नेवाली सधि है। वस्तुतः यह बात कोई विशेष महत्व नहीं रखती कि रूसोने शिक्षणके कितने विभाग किये हैं। अमुक विषयके अमुक विभाग करने चाहिए,

ऐसा कोई नियम नहीं है। यह सब सुविधाका सवाल है। इसलिए दृष्टि-भेदके कारण वर्गीकरणमें अंतर होना स्वाभाविक है। ऊपर किये हुए तीन विभाग ही आवश्यक हैं, ऐसी कोई बात नहीं है; क्योंकि ऐसा कहा जा सकता है कि मनुष्यको क्या व्यक्ति-शिक्षण और क्या व्यवहार शिक्षण बाहरसे मिलता है। केवल निसर्ग-शिक्षण ही भीतरसे मिलता है। इस दृष्टिसे, अगर हम अंतः-शिक्षण और बाह्यशिक्षण ये दो विभाग करें तो क्या हर्ज है?

परन्तु इससे भी आगे बढ़कर यह भी कहा जा सकता है कि बाह्यशिक्षण केवल प्रभावरहित क्रिया है और अंतः-शिक्षण ही आवश्यक है। इसलिए शिक्षणका यही एकमात्र यथार्थ अथवा तात्त्विक विभाग है। हमने जिसे 'बाह्य शिक्षण' कहा है, वह केवल मनुष्यासे अथवा पाठशालामें ही नहीं मिलता। वह शिक्षण इस अनंत विश्वके प्रत्येक पदार्थसे निरंतर मिलता ही रहता है। उसमें कभी विराम नहीं होता। जैसाकि शेक्सपीयरने कहा है, "बहते हुए झरनोंमें ग्रंथ संचित हैं, पत्थरोंमें दर्शन छिपे हुए हैं और सचराचर पदार्थोंमें शिक्षाके सारे तत्त्व सन्निहित हैं।" वृक्ष, वनस्पति, फूल, नदियां, पर्वत, आकाश, तारे—सभी मनुष्यको अपने-अपने ढंगसे शिक्षा देते हैं। नैयायिकोंके अणुसे लेकर सांख्योंके महत्तत्वतक, भूमिति (रेखागणित) के बिंदुसे लेकर भूगोलके सिंधुतक, या छुटपनकी भाषामें कहें, तो 'रामजीकी चींटीसे लेकर तुलसीके मूल' तक सारे छोटे-बड़े पदार्थ मनुष्यके गुरु हैं। विचक्षण विज्ञान-वेत्ताओंके दूर-चक्षु (दूरबीन) से, व्यवहार विशारदोंके चर्मचक्षुसे, कल्पना-कुशल कवियोंके दिव्य-चक्षुसे या तात्त्विक तत्त्व-वेत्ताओंके ज्ञान-चक्षुसे जो-जो पदार्थ दृष्टिगोचर होते होंगे—अथवा न भी होते होंगे— उनसब पदार्थोंसे हमें नित्य पाठ मिल रहे हैं। सृष्टि-परमेश्वर द्वारा हमारे अध्ययनके लिए हमारे सामने खोलकर रक्खा हुआ एक शाश्वत, दिव्य, आश्चर्यमय, परम पवित्र ग्रंथ है। उसके सामने वेद व्यर्थ है, कुरान बेकार है, बाइबिल निर्बल है। लेकिन यह ग्रंथ-गंगा चाहे कितनी ही गंभीर क्यों न हो मनुष्य तो अपने लोटेसे ही उसका पानी लेगा।

इसलिए इस विश्वमेंसे 'बाह्यत' हमे वही और उतना ही शिक्षण मिलेगा, जिसके या जितनेके बीज हमारे 'अदर' होगे। इसका अनुभव हरएकको है। हम इतने विषय सीखते हैं, इतने ग्रथ पढते है, इतने विचार सुनते है, इतनी चीजें देखते है उनमेंसे कितनी हमे याद रहती है? साराश, बाह्य जगतसे हम जो कुछ सीखते है, वह सब भुला देते है। उसकी जगह केवल सस्कार बाकी रह जाते है। बल्कि शिक्षणका अर्थ, जानकारी नष्ट होनेपर, बचे हुए सस्कार ही है। इसका कारण ऊपर दर्शाया गया है। जो हमारे 'अदर' नही है, वह बाहरसे आना असभव है। बाह्य शिक्षण कोई स्वतत्र या तात्त्विक पदार्थ नही है। वह केवल एक अभावात्मक क्रिया है।

अब ऐसे प्रसगमे हमेशा एक दुहरी समस्या पेश होती है। यदि बाह्य शिक्षणको मिथ्या माने, तो सस्कार बननेके लिए किसी-न-किसी बाह्य निमित्त या आलबन अथवा आधारकी आवश्यकता होती ही है। इसके विपरीत अगर बाह्य शिक्षणको सत्य या भाव-रूपमें माने तो ऊपर कहे अनुसार उसका अतर-विकासके अनुकूल अश ही, और वह भी सस्कार-रूपमें, शेष रहता है। अर्थात् उभय पक्षमें विप्रतिपत्ति (डाईलेमा) उपस्थित होती है। ऐसी अवस्थामे इन दोनो शिक्षणोका परस्पर-सबध क्या माना जाय? परतु यह विवाद नया नही है। इसलिए उसका निर्णय भी नया नही है। सभी शास्त्रोमें इस प्रकारके विवाद उपस्थित होते है और सर्वत्र उनका एक ही निर्णय होता है। उदाहरणके लिए, यह वेदाती विवाद कि 'सुखका बाह्य पदार्थोसे क्या सबध है, लीजिए'। वहा भी वही गुत्थी है। अगर आप कहे कि बाह्य पदार्थोमे सुख है, तो उनसे सर्वदा सुखही मिलना चाहिए; लेकिन ऐसा होता नही है। यदि मनस्थिति बिगडी हुई हो, तो दूसरे अवसरो पर सुखकारक प्रतीत होनेवाले पदार्थ भी सुख नही दे सकते। इसके विपरीत यदि कहे कि बाह्य पदार्थोमें सुख नही है, सुख एक मानसिक भावना है, तो ऐसा भी अनुभव सदा नही होता। जैसा कि शेक्सपीयरने कहा है, "यदि इच्छा ही घोडा बन सकती, तो प्रत्येक मनुष्य घुडसवार हो जाता।"

लेकिन ऐसा हो नही सकता यह निष्ठुर सत्य है। तब इस समस्याका समाधान कैसे हो?

इसी तरहका दूसरा दृष्टात न्याय-शास्त्रसे लीजिए। प्रश्न यह है कि 'मिट्टीका मटकेसे क्या सबध है'? अगर आप कहे कि मिट्टी ही मटका है, तो मिट्टीसे पानी भरकर दिखाइए। *मिट्टी अलग और मटका अलग कहे, तो* हमारी मिट्टी हमें दे दीजिए, अपना घडा लेते जाइए। ऐसी हालतमे इन दोनोका *क्या सबध माना जाय?* यदि हम शुद्ध हिंदीमें कहे कि *हम बतला* नही सकते कि इस सबध का क्या स्वरूप है, तो हमारा अज्ञान दीखता है। इसलिए इस सबधको 'अनिर्वचनीय सबध' यह भव्य और प्रशस्त सस्कृत नाम दिया गया है।

परतु इस सबधके अनिर्वचनीय होते हुए भी एक पक्षमें जिस प्रकार **'वाचारभण विकारो नामधेय मृत्तिकेत्येव सत्यम्'** —'मिट्टी तात्विक और मटका मिथ्या'—ऐसा तारतम्यसे निश्चय किया जा सकता है, उसी प्रकार दूसरे पक्षमें *अत-शिक्षण भावरूप और बाह्यशिक्षण अभावरूप* कार्य है, ऐसा कहा जा सकता है।

किंतु एसा कहते ही एक दूसरा ही मूलोत्पाटी प्रश्न उपस्थित होता है। हमने शिक्षाके दो विभाग किये है। उनमेंसे अत-शिक्षण अथवा आत्म-विकास भावरूप होते हुए भी वह हरएक व्यक्तिके अदर-ही-अदर होता रहता है। उसके लिए हम कुछ भी कर नही सकते। उसका कोईपाठ्यक्रम नही बनाया जा सकता। और यदि बनाया भी जाय, तो उसपर अमल नही किया जा सकता। बाह्यशिक्षण सामान्यत और व्यक्ति-शिक्षण विशेषत अभावरूप करार दिया गया है। "ऐसी अवस्थामे **'न हि शशक-विषाणा कोऽपि कस्मै ददाति'** इस न्याय के अनुसार शिक्षण-विषयक आदोलन हमारी मूर्खताके प्रदर्शन ही है क्या?" यह कह देना आवश्यक है कि यह आक्षेप आपातत जैसा लाजवाब या मुहतोड मालूम होता है, वस्तुत वैसा नही है। कारण, जब हम यह कहते है कि (बाह्य) शिक्षण अभावात्मक कार्य (निगेटिव फक्शन) है, तब हम तो यह नही कहते कि वह 'कार्य' ही नही है। वह कार्य

है, वह उपयोगी कार्य है, परन्तु वह अभावात्मक कार्य है, इतना ही हमे कहना होता है। निवेदन इतना ही है कि शिक्षणका कार्य कोई स्वतत्र तत्त्व उत्पन्न करना नही है। सुप्त तत्त्वको जाग्रत करना है। इसलिए शिक्षणका उपयोग लोग जिस अर्थमे समझते है, उस अर्थमे नही है। लेकिन इतने से शिक्षण निरुपयोगी नहीं हो जाता। उग्र सुधारकोके 'विधवा विवाहोत्तजन' को समाज शिक्षक वर्गका 'विधवा विवाह-प्रतिबधनिवारण' भले ही निरुपयोगी मालूम होता हो, परतु वास्तवमे वह निरुपयोगी नही है। बल्कि वही उपयोगी है, यह मानना पडेगा। साराश, शिक्षण उत्तेजक दवा नही है, यह प्रतिबध-निवारक उपाय है। रस्किनने शिल्पकलाकी भी एसी ही व्याख्या की है। शिल्पज्ञ पत्थर या मिट्टीमेसे मूर्ति उत्पन्न नही करता। वह तो उसमे है ही। सिर्फ छिपी हुई है। उसे प्रकट करना शिल्पीका काम है। इसपरसे स्पष्ट है कि शिक्षण अभावात्मक होते हुए भी उपयोगी है। और चाहे प्रतिबध-निवारणके अर्थमे ही क्या न हो, उसमे थोडीसी भावात्मकता है ही। इसी अर्थको ध्यानमे रखकर ऊपर 'तारतम्यसे' (अपेक्षाकृत) अभावात्मक एसी सावधानीकी भाषाका प्रयोग किया है। शिक्षण आत्मविकासकी तुलनामे अभावात्मक है। अर्थात् उसका 'भाव' बहुत थोडा है।

लेकिन हमने शिक्षा का भाव बेहद बढा दिया है। इसलिए हमारी वर्तमान शिक्षा प्रणाली अत्यत अस्वाभाविक, विपरीत और दुराग्रही हो गई है। जहा किसी लडकेकी स्मरण-शक्ति जरा तीव्र दिखाई दी कि उसे और ज्यादा रटनेको उत्साहित किया जाता है। लडकेका पिता अघोर हो उठता है। लडकेके दिमागमें कितना ठूसू और कितना नही, इसका उसे कोई विवेक नही रहता। पाठशालाकी शिक्षण-पद्धतिमें भी यही नीति निर्धारित की जाती है। इसके विपरीत यदि विद्यार्थी मद हो तो उसकी अवश्य उपेक्षा की जायगी। होशियार माने जानेवाले लडके जैसे-तैसे कॉलिजतक पहुचते है और फिर पिछड जाते है। और यदि कॉलिजमें न पिछडे, तो आगे चलकर व्यवहारमें निकम्मे साबित होते हैं। इसका कारण यह है कि उनकी कोमल बुद्धिपर बेहिसाब बोझ लादा जाता है। यदि थोडा

तेज है और व्यवस्थितरूपसे चलता है, तो उसे छेड़ना नही चाहिए। लेकिन इसके बदले 'घोडा तेज है न ? लगाओ चाबुक', ऐसी नीतिसे क्या होगा ? घोडा भड़क जायगा। खुद तो गड्ढेमें गिरेगा ही अपने मालिक को भी गिराएगा। यह बेवकूफीकी और जगली नीति कम-से-कम राष्ट्रीय शालाओं-में तो हरगिज नही बरतनी चाहिए।

सच बात तो यह है कि जहा विद्यार्थीको यह भान हुआ कि वह शिक्षण ले रहा है, वहा शिक्षणका सारा आनद ही लुप्त हो जाता है। छोटे लडकोसे जो यह कहा जाता है कि खेल ही उत्तम व्यायाम है, उसका भी रहस्य यही है। खेलमें व्यायाम होता है, लेकिन 'मै व्यायाम करता हू' यह बोध नही होता। खेलते समय आसपासका जगत नष्ट हो जाता है। लडके तद्रूप होकर अद्वैतका अनुभव करते है। देह-भान लुप्त हो जाता है। प्यास, भूख, थकान, चोट, किसी वेदनाकी भी प्रतीति नही होती। साराश, खेल आनद होता है। वह व्यायाम रूप कर्तव्य नही होता। यही नियम शिक्षण पर भी लागू करना चाहिए। 'शिक्षण एक कर्तव्य है' इस कृत्रिम भावनाके बदले 'शिक्षण आनद है', यह नैसर्गिक और तेजस्वी भावना उत्पन्न होनी चाहिए। लेकिन क्या हमारे लडकोमे ऐसी भावना पाई जाती है ? 'शिक्षण आनद है' इस भावनाकी बात तो छोड दीजिये, किंतु शिक्षण कर्तव्य है', यह भावना भी बहुत कम पाई जाती है। 'शिक्षण दड है', यह गुलामीकी भावना ही आज विद्यार्थियो-मे प्रचलित है। बालकमे जरा सजीवताकी चमक या स्वतन्त्र-वृत्तिके लक्षण दिखाए नही कि तुरत घरवाले कहने लगे कि अब इसे स्कूलमे बडना चाहिए। तो पाठशालाका अर्थ क्या हुआ ? —बेडनकी जगह। इसलिए इस पवित्र कार्यमे हाथ बटानेवाले शिक्षक इस जेलखानके छोटे-बडे कर्मचारी है।

लेकिन इसमे दोष किसका है ? शिक्षाके विषयमें हमारे जो विचार है और उनके अनुसार हमने जिस पद्धतिका—अथवा पद्धतिके अभावका—अवलबन किया है, उसका यह दोष है। विद्यार्थियोका शिक्षण इस प्रकार होना चाहिए कि उन्हे उसका बोध ही न हो, यानी स्वाभाविकरूपसे होना चाहिए। बाल्यावस्थामे बालक जिस सहजभावसे मातृभाषा सीखता है,

उसी सहज भावसे उसका अगला शिक्षण भी होना चाहिए। लड़का, व्याकरण क्या चीज है, यह भले ही न जानता हो; लेकिन वह 'मा आया' नही कहता। कारण वह व्याकरण समझता है। वह 'व्याकरण' शब्द भले न जानता हो या उसे व्याकरणकी परिभाषा भले ही न मालूम हो; परतु व्याकरणका मुख्य कार्य तो हो चुका है। साध्य और साधनको उलट-पुलट नही करना चाहिए। साध्यके लिए साधन होते है, साधनके लिए साध्य नही। यही बात तर्कशास्त्रपर भी लागू होती है। गौतमके न्यायसूत्र अथवा एरिस्टाटलका तर्कशास्त्र पढनेका क्या अभिप्राय है ? यही कि हम व्यवस्थित विचार कर सकें; अचूक अनुमान कर सकें। दीया जब मद होने लगता है, तब छोटा लड़का भी अदाज करता है कि शायद उसमे तेल नही है। उसके दिमागमे सारा तर्क होता है। हा, इतना अवश्य है कि वह 'पचावयवी वाक्य' या 'सिलाजिज्म' नहीं बना सकता। विद्यार्थीके भीतर तर्क-शक्ति स्वभावत होती है। शिक्षणका कार्य केवल ऐसे अवसर उपस्थित करना है, जिससे उस तर्क-शक्तिको समय-समयपर खाद्य मिलता रहे। सारे शास्त्र, सब कलाए, तमाम सद्गुण, मनुष्यमे बीजत स्वयभू है। हम उस बीज को देख नही सकते। लेकिन वह दिखाई नहीं देता, इसलिए उसका अभाव तो नहीं है ?

परतु कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि रूसोको यह मत पसद नही है। "मनुष्य स्वभावत दुर्बल है, अनीतिमान है, शिक्षणमे उसे बलवान या नीतिमान बनाना है। स्वभावसे वह पशु है, उसे मनुष्य बनाना है। 'पापोऽहं पापकर्माहं पापात्मा पापसभव.' यह उसका पूर्व रूप है। उसका उत्तर-रूप शिक्षणसे सपन्न होनेवाला है"—इस आशयकी भाषाका प्रयोग वह कभी-कभी करता है। इसके विरुद्ध आशयके वाक्य भी उसके ग्रथोमें पाये जाते है। इसलिए उसका अमुक ही मत है यह कहना कठिन है।* तथापि उसका ऊपर लिखे अनुसार मत हो, तो भी उसमे उसका विशेष दोष नही है, बल्कि उसके जमानेकी परिस्थितिका दोष है, ऐसा कहा जा सकता है। स्वतत्र बुद्धिके लोग भी एक हदतक, यदि परिस्थितिके गुलाम नहीं होते,

तो कम-से-कम परिस्थिति द्वारा गढ़े जाते हैं। और फिर रूसोके जमानेकी प्रजाकी स्थिति कैसी भीषण थी। भारतमें आज जिस प्रकार तेंतीस करोड़ जनताका भयावह दृश्य नजर आ रहा है, उसी तरह की हालत उस वक्तके फ्रांसकी थी। इसलिए यदि रूसो-जैसे ज्वालामुखी, ज्वलंत और अतिशय उत्कट मनुष्यका भावनामय एवं विकारी हृदय मनुष्य-जातिके प्रति घृणासे परिपूर्ण होगया हो, तो यह क्षम्य है। गुलामी देखते ही वह क्षोभ जाता था। उसका खून खौलने लगता था। वह आपेसे बाहर हो जाता था। ऐसी स्थितिमें मनुष्य-जातिके प्रति घृणाके कारण यदि उसका यह मत होगया हो कि मनुष्य एक जानवर है और उसमें शिक्षणसे थोड़ी-बहुत इंसानियत आती है, तो हम उसका तात्पर्य समझ सकते हैं। लेकिन रूसोके साथ हमें कितनी ही सहानुभूति क्यों न हो, तो भी इस प्रकार का—चाहे किसीने किसी भी परिस्थितिमें प्रतिपादन किया हो—अनुचित है, इसमें संदेह नहीं। मनुष्य स्वभावतः दुष्ट है, ऐसा माननेमें निखिल मनुष्य-जातिका अपमान है और निराशावादकी परमावधि है। अगर मनुष्य स्वभावसे ही दुष्ट हो, तो शिक्षणकी कोई आशा नहीं हो सकती। वस्तुसे उसका स्वभाव सदाके लिए पृथक् करना तर्क-दृष्टिसे असंभव है। इसलिए यदि मनुष्य स्वभाव अपने असली रूपमें दुष्टही हो तो उसे सुधारनेके सारे प्रयत्न बेकार जायंगे और निराशावादका तथा उसके साथ-साथ पशुवृत्तिका साम्राज्य शुरू हो जायगा। क्योंकि आशा नष्ट होते ही दंडका राज्य स्थापित हो जाता है। कुछ लोग जोशमें आकर कहा करते हैं कि ब्रिटिश-सरकारपरसे हमारा विश्वास सदाके लिए उठ गया। सुदैवसे यह सिर्फ जोशकी भाषा होती है। परंतु यदि यह सच होता, तो किसी भी शांतिमय आंदोलनका अर्थ निराशाका कर्म-योग ही होता। स्वावलंबनकी दृष्टिसे यह कहना ठीक है कि हमें सरकारके भरोसे नहीं रहना चाहिए। लेकिन यदि इसका यह अर्थ हो कि हमें यह निश्चय हो गया है कि अंग्रेजोंके हृदय नहीं है, उनका कभी सुधार ही नहीं हो सकता, तब तो निःशस्त्र आंदोलन केवल एक लाचारीका चारा हो जाता है। क्या सत्याग्रहका और क्या शिक्षणका मुख्य

आधार ही यह मूलभूत कल्पना है कि प्रत्येक मनुष्यके आत्मा है। जिस प्रकार शत्रुके आत्मा नही है, यह सिद्ध होते ही सत्याग्रह बेकार हो जाता है, उसी प्रकार मनुष्य स्वभावत दुष्ट है, यह साबित होते ही शिक्षणकी प्राय. सारी आशा ही नष्ट हो जाती है। फिर तो 'छडी पडे छम-छम, विद्या आवे झम-झम' *शिक्षाका एकमात्र सूत्र होगा।* इसलिए विद्वान् तत्वज्ञो और शिक्षण-वेत्ताओने भी यह शास्त्रीय सिद्धात मान लिया है कि मनुष्यके मनमे पूर्णताके सारे तत्त्व बीज-रूपमे स्वत -सिद्ध है।

यह शास्त्रीय सिद्धात स्वीकार करनेपर जिस प्रकार आजकी जिद्दी शिक्षा-पद्धति गलत साबित होती है, उसी प्रकार शिक्षाका कार्य नागरिक बनाना है; इस चालके आत्म-सभावित तत्त्व भी निराधार सिद्ध होते है। हम कुछ-न-कुछ शिक्षण देते है, लडकोंके दिलोपर किसी-न-किसी बातका असर होता है और उस परिणामका तथा हमारे शिक्षणका समीकरण करके 'अस्माकमेवाय विजय, अस्माकमेवायं महिमा' ऐसा कहकर हम नाचने लगते है। यह मानवीय मूर्खता की महिमा है। ऊपर कहा जा चुका है कि शिक्षणकी रचना ऐसी होनी चाहिए जिससे कि विद्यार्थीको यह मालूम भी न पडे कि वह शिक्षण ले रहा है। लेकिन इसके लिए साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि शिक्षकके दिलमें ऐसी धुधली और मद भावना भी न हो कि वह विद्यार्थियोको शिक्षण दे रहा है। जबतक गुरु अनन्य और सहज-शिक्षक *नही होगा, तबतक विद्यार्थियोंको सहज-शिक्षण मिलना असभव है।* जब कहा जाता है कि "हम तो फोबेल, पैस्टलॉजी या मौंटसरीकी पद्धतिसे शिक्षण देते है" तब साफ समझ लेना चाहिए कि यह केवल वाचिक श्रम है, यह शब्द-शिक्षण है, यह किसी पद्धतिकी अर्थ-शून्य नकल है, यह दाव है, इसमें जान नही है। शिक्षण कोई बीजगणितका सूत्र (फॉर्मूला) थोडे ही है कि सूत्र लगाते ही फौरन उत्तर आ जाय। जो दिया जाता है, वह शिक्षण ही नहीं है और न शिक्षण देनेकी पद्धति, पद्धति है। जो अदर है वह सहज भावसे प्रकट होता है—इस तरहसे जो प्रकट होता है, वही शिक्षण है। यही सहज-शिक्षण—'सदोषमपि'—सदोष भले ही हो, तो भी, अच्छा है।

परंतु किसी विशिष्ट पद्धतिके गुलामोंके द्वारा प्राप्त होनेवाली व्यवस्थित प्रज्ञा हमें नहीं चाहिए।

आखिर शास्त्र क्या चीज है? 'शास्त्र बराबर है 'व्यवस्थित प्रज्ञा'के'। इसके सिवा इन शास्त्रोंका कोई अर्थ भी है। शिक्षण शास्त्रवेत्ता स्पेंसर शिक्षण शास्त्रपर लिखते हुए कहता है कि शिक्षणसे अलौकिक व्यक्ति बनते रहा है। ऐसे शास्त्रकी शास्त्र-दृष्टिसे क्या कीमत हो सकती है! 'एतत् बुद्ध्वा बुद्धिमान स्यात् कृतकृत्यश्च भारत' जैसी शास्त्रकी प्रतिज्ञा होनी चाहिए। जो शास्त्र ऐसी प्रतिज्ञा नहीं कर सकता, वह शास्त्र लोगोंकी आराम धूल झाड़नेका व्यवस्थित प्रयास मात्र है। शेक्सपीयरने कौन-से नाट्य शास्त्रका अध्ययन किया था? अलंकार शास्त्रके नियम रटकर क्या कभी कोई प्रतिभावान कवि—या काव्य रसिक भी—बना है? शास्त्र-पद्धति, इन शब्दोंका शब्द-सृष्टिसे बाहर कुछ अर्थ ही नहीं होता। यह महज भ्रम है। 'यास्तेषां स्वैर कथास्ता एव भवति शास्त्राणि' —'महापुरुषोंकी स्वैर-कथाएं ही शास्त्र हैं'— भर्तृहरिका यह एक मार्मिक वचन है। यहांपर भी वही लागू होता है। जो किसी भी पद्धतिके बिना सुव्यवस्थित होता है जिसे कोई भी गुरू दे नहीं सकता परंतु जो दिया जाता है —ऐसा है शिक्षणका अनिर्वचनीय स्वरूप। इसलिए दिव्यदृष्टिवाले महात्माओंने कहा कि शिक्षण कैसे दिया जाता है, हम नहीं जानते। 'न विजानीम' (केनोपनिषत्)। शिक्षण-पद्धति, पाठ्यक्रम, समय-पत्रक, ये सब अर्थ शून्य हैं। इनमें सिवा आत्म-वचनाके और कुछ नहीं धरा है। जीनेकी क्रियामेंसे ही शिक्षण मिलना चाहिए। शिक्षण जब जीनेकी क्रियासे भिन्न एक स्वतंत्र क्रिया बनती है, उस वक्त शरीरमें विजातीय द्रव्य घुसनेसे जैसा परिणाम होता है, वैसा ही जहरीला और रोगोत्पादक परिणाम हमारे मनपर होता है। कामकी कसरतके बिना ज्ञानकी भूख नहीं लगती। और वैसी हालतमें जो ज्ञान विजातीय द्रव्यके रूपमें अंदर घुसता है उसे हजम करने की ताकत पचनक्रियामें नहीं होती। सिर्फ भेजेमें किताब ठूंस देनेसे अगर मनुष्य ज्ञानी बन जाता तो पुस्तकालयकी अलमारियां ज्ञानी मानी जातीं। लालचसे

खाये हुए ज्ञानका अपचन होता है और बौद्धिक पेचिश हो जाती है। और अतमें मनुष्यकी नैतिक मृत्यु होती है।

जो नियम विद्यार्थियोंके शिक्षणपर लागू हैं, वही लोक-शिक्षण या लोक-सग्रह पर भी घटित होता है। महापुरुषोकी दृष्टिसे सारा समाज एक बहुत बडा शिशु है। "भीष्माचार्य आमरण ब्रह्मचारी रहे। किंतु बिना पुत्रके तो सद्गति नहीं होती, ऐसा सुनते हैं। तब भीष्माचार्यको सद्गति कैसे मिली होगी?" ऐसी बेहूदी शका पश होनेपर उसका समाधान इस प्रकार किया गया कि भीष्माचार्य सारे समाजके लिए पिताके समान होनेके कारण हम सब उनके पुत्र ही हैं। इसलिए लोक-सग्रहका प्रश्न महापुरुषोकी दृष्टिसे बालकोंके शिक्षणका ही प्रश्न है। परतु शिक्षणके प्रश्नकी तरह लोक-सग्रहका भी नाहक हौवा बनाकर, 'ज्ञानी पुरुषकी यह एक भारी जिम्मेवारी है' ऐसा कहनेका रिवाज चल पडा है। लोक-सग्रह किसी व्यक्तिके लिए रखा नहीं है। लोक-सग्रह मुझपर निर्भर है, ऐसा मानना गोया टिटहरीका यह मानकर कि मेरे आधारपर आकाश स्थित है, खुदको उल्टा टाग लेनेके बराबर है। 'कर्ताहम' 'मैं कर्ता हूं', यह अज्ञानका लक्षण है, ज्ञानका नही। यहातक कि जहा 'कर्ताहम्' यह भावना जाग्रत है, वहा यथार्थ कर्तृत्व ही नही रह सकेगा। शिक्षण जिस प्रकार अभावात्मक या प्रतिबध—निवारणात्मक कार्य है, उसी प्रकार लोक-सग्रह भी है। इसीलिए श्रीमच्छकराचार्यने 'लोकस्य उन्मार्ग-प्रवृत्ति-निवारण लोक-सग्रह,' ऐसा लोक-सग्रहका निवर्तक स्वरूप दिखलाया है।

और 'जन्म-हेतु-पिता' पिता नहीं है। ऐसे गुरुओंके चरणोंके निकट बैठकर जिन्होंने शिक्षा पाई है, वे ही मातृमान, पितृमान, आचार्यवान कहलानेके गौरवके पात्र हैं। अन्य सब अनाथ बालक हैं। सब अशिक्षित हैं। ऐसा उदार शिक्षण कितनोंके भाग्यमें लिखा होता है?

'महाराष्ट्र-धर्म' : जनवरी, १९२३

: ४ :

चार पुरुषार्थ

मनुष्यके अंतःकरणकी सूक्ष्म भावनाओंकी दृष्टिसे समाज-रचनाका गहरा अध्ययन करके हमारे ऋषियोंने अनेक सुंदर कल्पनाओंका आविष्कार किया है। *'अनंतं वै मनः । अनंता विश्वेदेवाः'* —मनकी अनंत वृत्तियां होनेके कारण विश्वमें भी अनंत शक्तियां उत्पन्न होती हैं। इन अनंत मानसिक वृत्तियां और सामाजिक शक्तियोंका संपूर्ण साक्षात्कार करके ऋषियोंने धर्मकी रचना की है। स्वयं ऋषि कहते हैं—*'ऋषि पश्यन् अबोधत्'* । योग-शास्त्रमें योगीकी 'अर्धोन्मीलित' दृष्टिका वर्णन किया गया है। इसका रहस्य है—विश्वमें ओतप्रोत शक्तियोंके अवलोकन तथा निरीक्षणके लिए आधी दृष्टि खुली रहे और अपने हृदयमें संनिहित वृत्तियोंके परीक्षणके लिए आधी दृष्टि भीतरकी तरफ मुड़ी रहे। कालके कराल जबड़में पिसनेवाले दीन जनोंके प्रति करुणासे आधी दृष्टि खुली हुई और अंतर्यामी परमेश्वरके प्रेम-रसके पानसे मतवाली होनेके कारण आधी दृष्टि मुंदी हुई। योगी ऋषियोंकी इस अर्धोन्मीलित दृष्टिने अंतर्बाह्य सारी सृष्टिके दर्शन कर लिये थे। इसीसे हिंदू धर्म अनेक आश्चर्यकारक कल्पनाओं का भंडार बन गया है। अर्जुनके अक्षय तरकसमें बाणोंकी कमी होती ही न थी। उसी तरह हिंदूधर्म-रूपी महासागरमें छिपे हुए रत्न कभी खतम ही नहीं हो सकते। ऋषियोंकी इन मनोहर कल्पनाओंमें चतुर्विध पुरुषार्थकी कल्पना भी एक ऐसा ही रमणीक रत्न है।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ बतलाये गए हैं। इनमेंसे मोक्ष और काम दो परस्पर-विरोधी सिरोंपर स्थित हैं। प्रकृति और पुरुष *या शरीर और आत्मामें अनादि कालसे संघर्ष चला आ रहा है।* वेदोंमें जो वृत्र और इंद्रके युद्धका वर्णन है वह इसी सनातन युद्धका वर्णन है। 'वृत्र' का अर्थ है ज्ञानको ढक देनेवाली शक्ति। 'इंद्र' संज्ञा परोक्ष संकेतकी द्योतक है और उस अर्थको सूचित करनेके ही लिए खासकर गढी गई है। 'इदम्'—'द्र' या 'विदद्रष्टा' 'इंद्र' शब्दका प्रत्यक्ष अर्थ है। यह है उसका स्पष्टीकरण। ज्ञानको ढांकनेकी कोशिश करनेवाली और ज्ञानका दर्शन करनेकी चेष्टा करनेवाली, इन दो शक्तियोंका अर्थ क्रमशः जड, शरीरात्मक, भौतिक शक्ति और चेतन, ज्ञानमय, आत्मिक शक्ति है। इन दोनोंमें सदा संघर्ष होता रहता है और मनुष्यका जीवन इस संघर्षमें फंसा हुआ है। ये दोनों परस्पर-विरोधी तत्त्व एक ही व्यक्तिमें काम करते हैं, इसलिए मनुष्यका हृदय इनके युद्धका 'धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र' हो गया है। आत्माको मोक्ष-पुरुषार्थकी *अभिलाषा होती है, शरीरको काम-पुरुषार्थ प्रिय है। दोनों एक-दूसरेका* नाश करनेको तत्पर हैं।

मरने ही वाली है, वह हमारे वशकी बात नहीं,' यह कह देनेसे काम नहीं चलेगा। हम यह नहीं भुला सकते कि माताकी मृत्युकी अवश्यभाविता स्वीकार करके ही पुत्रका उत्पादन किया जाता है। इसीलिए तो जन्मका भी 'सूतक' (जनना शौच) रखना पडता है। चैतन्यरससे भरे बालकको उत्पन्न करनेका श्रेय अगर आपको देना हो, तो उसी रससे ओतप्रोत माताको मार डालनेका पातक भी उसीके मत्थे होगा। उत्पत्ति और सहार, काम और क्रोध, एक ही छडीके दो सिरे हैं। 'काम' कहते ही उसमें 'क्रोध' का अतर्भाव हो जाता है। इसीलिए अहिसक वृत्तिवाले सत्पुरुष सहार-क्रियाकी तरह उत्पत्तिकी क्रियामें भी हाथ ही नही बटाते। सच तो यह है कि बालकका चैतन्यरस कामका पैदा किया हुआ होता ही नही। जिस गदे अग-रजसे मलिन होनेमे मा-बाप अपने आपको धन्य मानते हैं वह रजोरस इसका पैदा किया हुआ होता है। *कारण, इसका अपना जन्म ही रजोगुणकी धूल* (रज) से हुआ है। आप अगर इसके मनोरथ पूरे करनेके फेरमे पडेगे तो यह कभी अघाएगा ही नही, इतना बडा पेटू है। जिस-जिसने इसे तृप्त करनेका प्रयोग किया वे सभी असफल हुए। उन सबको यही अनुभव हुआ कि कामकी तृप्ति कामोपभोग द्वारा करनेका यत्न स्वय क्षत्रिय बनकर पृथ्वीको नि क्षत्र करनेके प्रयासकी तरह व्याघातात्मक या असगत है। इसे चाहे *जितना भोग* लगाइए, सब आगमें घी डालने-जैसा ही होता है। इसकी भूख बढती ही जाती है। अन्नदाता ही इसका सबसे प्यारा खाद्य है और उसे खानेमे इसे नि सदेह भस्मासुरसे भी बढकर सफलता मिलती है। इसलिए इस कामासुर को वरदान देनेकी गल्ती न कीजिए।

इससे ठीक उल्टी बात काम कहता है। वह भी उतनी ही गभीरतासे कहता है—"मोक्षके चक्करमे आओगे तो नाहक अपना काल-मोक्ष (कपाल-क्रिया) करा लोगे। याद रखो, वेदातकी ही बदौलत हिंदुस्तान चौपट हुआ है। यह तुम्हे स्वर्गसुख और आत्म-साक्षात्कारकी मीठी-मीठी बातें सुनाकर भुलावेम डालेगा। लेकिन यह इसकी खालिस दगाबाजी है। ऐसे काल्पनिक कल्याणके पीछे पडकर ऐहिक सुखको तिलाजलि देना बुद्धिमानीकी बात नही

है। 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंकी चर्चा यदि कोई घडीभर मनोविनोदके लिए भोजनके अनन्तर नींद आनेसे पहले या नींद आनेके लिए करे तो उसकी वह क्रीडा क्षम्य मानी जा सकती है। परन्तु, यदि कोई खालीपेट यह चर्चा करनेका हौसला करेगा, तो वह याद रक्खे कि उसे व्यावहारिक तत्त्वमसि (पैसे) की ही शरण लेनी होगी। चांदनी बिल्कुल आटे-जैसी सफेद भले ही हो, परन्तु उसकी रोटियां नहीं बनतीं। और तो कुछ नहीं, मोक्षकी चिंताकी बदौलत जीवनका आनंद खो बैठोगे। इस विश्वके विविध विषयों का आस्वाद लेने के लिए तुम्हें इंद्रियां दी गई हैं। लेकिन यदि तुम 'जगन्मिथ्या' मानकर इंद्रियोंको मारनेका उद्योग करते रहोगे तो आत्मवंचना करोगे और आखिर तुम्हें पछताना पडेगा। पहले तो जो आंखोंको साफ-साफ नजर आता है उस संसारको मिथ्या मानो और फिर जिसके अस्तित्व के विषयमें बडे-बडे दार्शनिक भी सशंक हैं, वैसी 'आत्मा' नामक किसी वस्तुकी कल्पना करो, इसका क्या अर्थ है? वेदोंने भी कहा है, **'कामस्तदग्रे समवर्तत'**—सृष्टिकी उत्पत्ति कामसे हुई। और इसका अनुभव तो सभीको है। यदि दरअसल ईश्वर-जैसी कोई वस्तु हो तो भी कल यदि सभी लोग निष्काम होकर ब्रह्मचर्यका पालन करने लगे, तो जिस सृष्टिको उत्पन्न होनेसे बचानेके लिए यही परमेश्वर समय-समयपर अवतार धारण करता है उसका पूरा-पूरा विध्वंस हुए बिना न रहेगा। 'मोक्ष' के माने अगर आत्यंतिक सुख हो तो सरल भाषामें उसका अर्थ चिरंतन कामोपभोग ही हो सकता है।"

यह है कामकी दलील।

संपूर्ण त्याग और संपूर्ण भोग, ये परस्पर-विरोधी दो ध्रुव हैं। एक कहता है शरीर मिथ्या है, दूसरा कहता है आत्मा झूठी है। दोनोंको एक-दूसरेकी परवाह नहीं, दोनों पूरे स्वार्थी हैं। लेकिन आत्मा और शरीर दोनोंका मिलन मनुष्यमें हुआ है। इसलिए जिस तरह दोनों पक्षमें अपने ही सगे-संबंधी देखकर अर्जुनके लिए आत्मनिर्णय करना असंभव हो गया उसी तरह कर्म-योगके धर्मक्षेत्रमें अपने स्नेही-संबंधियोंको दोनों विपक्षियोंमें सलग्न देखकर

मनुष्यके लिए किसी भी एक पक्षके अनुकूल स्थायी और निश्चित निर्णय देना कठिन हो जाता है। मनकी द्विधा स्थिति हो जाती है और एक मन शरीरका पक्ष लेता है, दूसरा आत्माकी हिमायत करता है। मनुष्यका जीवन भ्र शरीर भ्रात्मा और भ्रात्महीन शरीरकी सधिपर आश्रित है, इसलिए उसे शुद्ध आत्मवाद या मोक्ष-पूजा पचती नही, और शुद्ध जडवाद या कामोपासना रुचती नही। इन दोनो मध्यम अद्वैत कायम करना, या उनका सामजस्य करना बड कौशल का काम है। यह कम करनेकी चतुराई या 'कौशल' ही जीवनका रहस्य है।

यदि देहासक्त या नीचेवाले मनको मन और आत्म प्रवण या ऊपरवाले मनको 'बुद्धि' नाम दिया जाय, तो 'मन' और 'बुद्धि' में एकता करके व्यवहार करना चाहिए। 'त्वयार्धम्—मायार्धम्' यह गणितकी समता यहा किसी काम की नही। "चार रोटिया है और दो लडके है, तो हरेकको कितनी रोटिया दी जाय?" ऐसी त्रैराशिककी समता अगर माताए सीखन लगे तो बडा अधर हो जाय। एक लडका दो सालका है और दूसरा पच्चीस वर्षका। पहला अतिसारसे मरेगा और दूसरा भूखसे ऐसे हिसाबी न्यायका अवलबन करके आधा शरीरका सतोष, आधा आत्माका सतोष करनकी कोशिशसे यह मसला हल नही होगा। समताका अर्थ है योग्यताके अनुसार कीमत आकना। गणित-शास्त्रमें अनतके आग चाहे जितनी बडी सात सख्या ली जाय तो भी उसकी कीमत अनतके मुकाबलेम शून्य समभी जाती हैं, उसी तरह शरीरकी योग्यता कितनी ही बढाई जाय, तो भी आत्माकी अनत महिमाके मुकाबलेम वह शून्यवत् हो जाती है। इसलिए निष्पक्ष समताको आत्माके ही पक्षका समर्थन करना चाहिए।

यह हुआ एक पक्ष। इस पक्षकी दृष्टिम शुद्ध आत्मपक्ष या आत्मवाद इष्ट है, परतु जबतक देहका बधन है तबतक वह शक्य नही प्रतीत होता। पर 'ससार छोडकर परमार्थ करनसे खानको अन्न भी नही मिलता' यही कथन बहुतेरे लोगोके दिमागम—या यो कह लीजिए कि पेटमें—तुरत घुस जाता है। 'उदरनिमित्तम्' सारा ढकोसला होनेसे सभी चाहते

है कि गुड खोपडेके नैवेद्यसे ही भगवान सतुष्ट हो जाय। नामदेवका दिया हुआ नैवेद्य भगवान खाते नही थे, इसलिए वही धरना देकर बैठ गये। लेकिन इनका दिया हुआ गुड-खोपडा यदि भगवान सचमुच खाने लगे, तो भगवानको एकादशी व्रत रखाने के लिए यह नई मडली सत्याग्रह किये बिना न रहेगी। ये आत्मा को थोडे-से सतुष्ट करना चाहते है। कारण कि अगर आत्माको बिल्कुल ही सतोष न दिया जाय और केवल देह-पूजाके धर्मका ही अनुसरण किया जाय तो उस देह-पूजाके समर्थनके लिए नास्तिक तत्त्वज्ञानका पारायण करनेपर भी अतरात्माका दश बद नहीं होता। इसलिए दोनो पक्षोकी दृष्टिमें समझौता वाछनीय है। यह समझौता करानेका भार धर्म और अर्थने लिया है।

जब दो आदमी मार-पीट करके एक-दूसरेका सिर फोडनेपर आमादा हो जाते है तब उनका टटा मिटानेके लिए दोनो पक्षके लोग बीच-बचाव करने लगते है। उसी प्रकार आत्मवादी मोक्ष और देहवादी कामका झगडा मिटानेके लिए मोक्षकी तरफसे धर्म और कामकी तरफसे अर्थ ये दो पुरुषार्थ उपस्थित हुए है। अब, ये—कम-से-कम दिखानेको तो—समझौता करानेके लिए बीच-बचाव करते है, इसलिए निष्पक्ष वृत्ति या समझदारीके समझौतेका स्वाग करना उनके लिए लाजिमी हो जाता है। अत उनकी भाषा दोनो पक्षोको थोडी-बहुत खुश करनेवाली होनी चाहिए, और होती भी है। परतु यद्यपि इन लोगोकी तकरार मिटानेकी बात करनी पडती है तथापि उनके दिलमें यह उलटा इच्छा नहीं होती कि दोनो पक्षोमेंसे किसी-पर भी मार न पडे। वे लहू-लुहान सिर देखना नही चाहते, मगर सिर्फ अपने पक्षका। यदि केवल शत्रु-पक्षके ही सिर फूटते हो तो उन्हे कोई परवाह न होती। लेकिन दुखका विषय तो यह है कि शत्रु-पक्षके साथ-साथ अपने पक्षके सिरपर भी डडे पडते ही है। इसीलिए झगडा तै करानेकी इतनी उत्सुकता होती है। साराश, धर्म और काम यद्यपि टटा मिटानेके लिए शाति-मत्र जपते हुए बीच-बचाव करने आये है, तथापि वास्तवमें धर्मके मनमें यही इच्छा होती है कि कामका सिर अच्छी तरह कुचल दिया जाय, और अर्थ

भी सोचता है कि मोक्ष म ् जाय तो अच्छा हो ! किसी भी एक पक्षका नाश होनेसे झगडा तो खतम होगा ही ! कई बार जो काम लडाईसे नही होता, वह सुलहसे हो जाता है। योद्धाओंकी तलवारकी अपेक्षा राजनीतिज्ञोंकी कलमको कभी-कभी सफलताका अधिक हिस्सा मिलता है। 'मोक्ष' और 'काम' को अगर योद्धा माने तो 'धर्म और 'अर्थ' को राजनीतिज्ञ कहना चाहिए। दोनो समझौता चाहते है, लेकिन धर्मकी यह कोशिश होती है कि सधिकी शर्तें मोक्षानुकूल हो, और अर्थकी यह चेष्टा होती है कि वे कामानुकूल हो। प्रत्येक चाहता है कि समझौता तो हो, लेकिन अपने पक्षकी कोई हानि न हो। यहा इस समझौतेका थोडा-सा नमूना ही दिखाया जा सकता है। उदाहरणके लिए—

मोक्ष ब्रह्मचारी और काम व्यभिचारी है। इस प्रकार ये दो सिरे है। धर्म कहेगा—"हमारा आदर्श ब्रह्मचर्य ही होना चाहिए, इसमे सदेह नही। उस आदर्शके पालनका जोरासे यत्न करना चाहिए। जब काम बहुत ही भूकने लगे तब धार्मिक विधिके अनुसार गृहस्थ-वृत्ति स्वीकार कर, उसके आगे एकाध टुकडा डाल देना चाहिए। परतु वहा भी उद्देश्य तो सयमके पालनका ही होना चाहिए और फिर तैयारी होते ही श्रेष्ठ आश्रममे प्रवेश करके उससे छुटकारा पाना चाहिए। ब्रह्मचर्यसे ससार उत्पन्न नही होगा, पापके समर्थनमे दी जानेवाली यह लचर दलील है। ससारके उत्पन्न होनेकी फिक्र आप न करे। उसके लिए भगवान पर्याप्त है। ब्रह्मचर्यसे सृष्टि नष्ट नही होगी, बल्कि मुक्ति होगी। फिर भी सयमका पालन करनेके अभिप्रायसे गृहस्थ-वृत्ति स्वीकार करनेमे आपत्ति नही है। इसमे कामका भी थोडा-बहुत काम निकल जायगा। लेकिन इससे कब छुटकारा पाऊगा, इसकी चिता और चिंतन लगातार करते रहना चाहिए। इससे मोक्षकी भी पूर्व-तैयारी हो जायगी।"

अर्थ कहेगा—"अगर व्यभिचारको स्वीकृति दी जाय तो ससारकी व्यवस्थाका अत हो जायगा। इसलिए वह न इष्ट है, न सभव। परतु ब्रह्मचर्य का नियम तो एकदम निसर्ग-विरोधी है। वह अशक्य ही नही, अनिष्ट भी

है। तब बीचका गृहस्थ-वृत्तिका ही राजमार्ग शेष रहता है। इसमें थोड़ा-सा संयमका कष्ट जरूर है, लेकिन वह अपरिहार्य है। बुढ़ापेमें इंद्रिया जर्जरित हो जानेपर अनायास ही त्याग हो जाता है। इसलिए यह त्यागकी शर्त अपरिहार्य होनेके कारण उसे मजूर कर लेना चाहिए। इससे मोक्षको भी जरा तसल्ली होगी, लेकिन विवाहका बंधन अभेद्य माननेका कोई कारण नही है। विवाह हमारे सुखके लिए होते हैं, हम विवाहके लिए नही है। इसलिए हम विवाहके धर्मको स्वीकार नही करते, लेकिन विवाहकी नीति को स्वीकार कर सकते हैं।"

मोक्षकी दृष्टिमें अहिंसा परम धर्म है। पतजलिने कहा है कि यह 'जाति-देश-काल-समय' आदि सारे बंधनोंसे परे 'सार्वभौम महाव्रत' है। इसके विपरीत कामका सिद्धात-वाक्य 'ईश्वरोऽहमहं भोगी' है। इसलिए उसका तो बिना हिंसाके निर्वाह ही नही हो सकता, क्योंकि साम्राज्यवादकी वृकोदर-वृत्तिकी इमारत हिंसाके ही पायेपर रखी जा सकती है।

ऐसी स्थितिमें धर्म कहेगा—"कम-से-कम मानसिक हिंसा तो किसी हालतमें नही होने देनी चाहिए। शरीर-धर्मके रूपमें कुछ-न-कुछ हिंसा अनजाने भी हो ही जाती है। उसे भी कम करनेकी कोशिश करनी चाहिए। परंतु प्रयत्न करनेपर भी कमजोरीके कारण जो हिंसा बाकी रह जायगी उतनी क्षम्य समझी जाय। पर इसका यह अर्थ नही कि उतनी हिंसा करनेका हमें अधिकार है। किंतु उतनीके लिए हम परमेश्वरसे नम्रतापूर्वक क्षमा मागें और अपनी बुद्धि शुद्ध रखें। अगर क्षमा-वृत्ति असंभव ही हो, तो 'सौ अपराध माफ करूगा', जैसा कोई व्रत लेकर हिंसाको आगे टाल देना चाहिए। इतना करनेपर भी हम अपनी वृत्तिको काबूमें न रख सकें, हमारे अंतःकरणमें छिपा हुआ पशु अगर जाग ही उठे तो हम अपनेसे अधिक बलवान् व्यक्तिसे लोहा लें, कम-से-कम अपनेसे कम बलवान्को तो क्षमा करें। यह भी नामुमकिन हो तो अपने बचावके लिए हिंसा करें, हमला करनेके लिए नहीं। उसमें भी फिर हिंसाके साधन, जहातक हो सके, सीधे-सादे और सुथरे हो। केवल शरीरसे ही द्वंद्व-युद्ध करें, हथियार काममें न लावें।

साराश, चाहे धर्ममे हिंसाका स्थान भले ही न हो, लेकिन हिंसामे धर्मका स्थान अवश्य होना चाहिए।"

अर्थ यहेगा—"हिंसाके बिना ससारका चलना ही असभव है। 'जीवो जीवस्य जीवनम्' सृष्टिका न्याय हैं। हमे उसे मानना ही पडेगा। लेकिन हिंसा करना भी एक कला है। उस कलामे निपुणता प्राप्त किये बिना किसीको भी हिंसा नही करनी चाहिए। मुसलमानोके राजमे जितनी गायोकी हत्या होती थी उससे कई गुनी गाये अग्रजाके राजमें कत्लकी जाती हैं, यह बात सरकारी आकडोसे साफ जाहिर हैं। लेकिन मुसलमान हिंसाकी कलाके पडित नहीं थे इसलिए उनके खिलाफ इतना हो हल्ला मचा, अग्रेजासे किसीको खास चिढ नही होती। इसका कारण है हिंसाकी कला। इन्फ्लूएजाने तीस करोड आदमियोमेसे थोडे ही समयम साठ लाख आदमियोको खाकर अपने-आपको बदनाम कर लिया। वस्तुत मलेरिया उससे अधिक आदमियोका कलेवा कर लेता है। लेकिन धीरे धीरे चबा-चबाकर खानेका आहार-शास्त्रका नियम उसे मालूम है, इसलिए वह बडा साहू ठहरा। नए चिकित्सा विज्ञानका एक नियम है कि शीतोपचार और उष्णोपचार एकके बाद एक बारी-बारीसे करते रहना चाहिए। वही नियम हिंसापर भी लागू होता है। जबतक युद्धके पश्चात शाति-परिषद् और शाति-परिषद्के बाद फिर युद्ध, यह क्रम भलीभाति जारी न किया जा सके तबतक हिंसा नही करनी चाहिए। चूनपर ईंट और ईंटोपर चूना रख रखकर दीवार बनाई जाती है, और फिर उसपर चूना पोता जाता है। उसी प्रकार शातिके बाद युद्ध और युद्धके बाद शातिके क्रमसे साम्राज्य कायम करके उस साम्राज्यपर फिर शातिका चूना पोतना चाहिए। इसके बदले अगर केवल ईंटोपर ईंट ही जमाई जाय तो सारी ईंट लुढककर गिर जाती हैं। इसलिए दो हिंसाओके बीच एक अहिंसाको स्थान अवश्य देना चाहिए। इतना समझौता कर लेनेम कोई हर्ज नही।'

'अर्थमनर्थम् भावय नित्यम्' यह मोक्षका सूत्र-वाक्य है। इसके विपरीत जहा कामोपभोग ही महामत्र है वहा अर्थ-सचयका अनुष्ठान स्वाभाविक ही

है। धर्मके मतसे 'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्य.'—मनुष्यकी तृप्ति अर्थसचयसे कदापि नही हो सकती। इसलिए अर्थसग्रह करना ही हो तो उसकी मर्यादा बना लेनी चाहिए। सृष्टिका स्वरूप 'अश्वत्थ है। अर्थात् कलके लिए सचय उसके पास नही है। इसलिए मनुष्यको भी 'अश्वत्थ-सग्रह' रखना चाहिए। 'स एवाद्य स उश्व.'—"वह आज भी है और कल भी है", यह वर्णन ज्ञान-सग्रहपर घटित होता है। इसलिए एक आदमी चाहे कितना भी ज्ञान क्यो न कमाए, उसके कारण दूसरेका ज्ञान नही घटता। परतु द्रव्य-सग्रहकी यह बात नही है। अगर मै पच्चीस दिनके लिए आज ही सग्रह करके रखता हू तो मेरा व्यवहार चौबीस मनुष्योका आजका सग्रह चुरानेके बराबर है, और इतने मनुष्योको कम या अधिक मात्रामे भूखो मारनेका पाप मेरे सिर है। इसके अलावा, सृष्टिमे अधिक सग्रह ही न होनेके कारण इतना सग्रह करने के लिए मुझे कुटिल मार्गका अवलबन करना पडता है। एकबारगी सग्रह करनेमे मेरी शक्तिपर अतिरिक्त बोझ पडता है, इसलिए मेरी वीर्य-हानि होती ही रहती है। इसके अतिरिक्त, इतना परिग्रह सुरक्षित रखनेकी चिताके कारण मेरा चित्त भी प्रसन्न नहीं रह सकता। अर्थसग्रहकी एक ही क्रियामे सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाचो व्रतोका सामुदायिक भग होता है।

इसलिए श्रम-से-श्रम, यानी केवल शरीर-निर्वाहके लिए ही, सग्रह करना चाहिए। वह भी—'अगानां मर्दनं कृत्वा श्रमसजातवारिणा'—"शरीर-श्रम द्वारा शरीरमेसे पानी निकालकर"—करना चाहिए। केवल शरीर-कर्मसे शरीर-यात्रा चलानेसे पाप लगनेका डर नही होता—'नाप्नोति किल्बिषम्' यह भगवान श्रीकृष्णका आश्वासन है। परतु जैसा कि कालिदासने रघुवशके राजाओका वर्णन करते हुए कहा है, उसमे भी त्यागकी वृत्ति होनी चाहिए। कारण, केवल तुम्हारा धन ही नही, तुम्हारा शरीर भी तुम्हारा निजका नहीं है, किंतु सार्वजनिक है, ईश्वरका है। साराश, सग्रहका परिणाम अश्वत्थ या तात्कालिक, साधन शारीरिक श्रम,

हेतु केवल शरीर-यात्रा और वृत्ति त्यागकी हो तो इतना भोग धर्मको मजूर है। **'तेन त्यक्तेन भुंजीथा.'**।

अर्थ की राय में—

"ससारमे जीवन-कलह चिरस्थायी है। जो योग्य होगा वह टिकेगा; *जो अयोग्य होगा उसका नाश होगा। इसलिए सबका सुभीता देखनेका* प्रयास व्यर्थ है। इसके अलावा, विश्वका विस्तार अनत है। उसका एक जरा-सा ही हिस्सा हमारे काबूमे आ पाया है। भौतिक-शास्त्र (विज्ञान) की ज्यों-ज्यो उन्नति होगी त्यो-त्यो हमारा प्रभुत्व भी अधिक विस्तृत होनेकी सभावना है। इसलिए अगर हम सबकी सुविधा देखनेकी अनावश्यक जिम्मेदारी स्वीकार कर भी लें, तो भी उसे पूरी करनेका एकमात्र उपाय हमारा अपना सग्रह कम करना नही है। सबके सामुदायिक सग्रहकी वृद्धि करनेका एक दूसरा रास्ता भी हमारे लिए अभी खुला है। और वही पौरुषका रास्ता है। सृष्टिमें अक्षय भंडार भरा हुआ है। पर हमे उसका पूरा ज्ञान नही है। इसलिए वैज्ञानिक आविष्कारोंकी दिशामें प्रयत्न जारी रखकर भविष्यके लिए सग्रह करनेमें कोई हर्ज नही है—बल्कि, सग्रह करना कर्तव्य है। मनुष्यकी जरूरतें जितनी बढेंगी उतना ही व्यापारको उत्तेजन मिलेगा और सपत्ति बढेगी। इसलिए सग्रह अवश्य करना चाहिए।

"लेकिन बिल्कुल ही एकातिक स्वार्थ ठीक नही होगा। कारण कि मनुष्य समाजबद्ध है, इसलिए उसे दूसरोके स्वार्थका भी विचार करना ही पडता है। ससारकी रोटीको स्वादिष्ट बनानेके लिए स्वार्थके आटेमें थोडा-सा परार्थका नमक मिलाना भी जरूरी हो जाता है। लेकिन याद रहे कि आटेमे नमक मिलाना है, न कि नमकमें 'आटा'। स्वार्थके गालपर परार्थका तिल बना देनेसे शोभा बढ जाती है। लेकिन तिलके बराबर बिंदी लगाना एक बात है और सारे गालमें काजल पोत लेना दूसरी बात है। परार्थके सिद्धातको अगर अनावश्यक महत्व दिया जायगा तो परावलम्बनको प्रोत्साहन मिलेगा। स्वार्थ स्वावलबनका तत्त्व है। स्वार्थमय जीवन-सग्राममे जो दुर्बल ठहरेंगे

उन्हे मरना ही चाहिए। और दुर्बलोंको मारनेमे अगर हम कारणीभूत हो, तो वह दूषण नही है भूषण ही है।

"एक दृष्टिसे तो दान करना दूसरोंका अपमान करना है। प्याऊ खोलनेमें पुण्य माना जाता है, लेकिन स्वय धर्म-शास्त्रोने ही कहा है कि प्याऊपर पानी पीनवाला पापका भागी होता है। इसका क्या मतलब है? क्या प्याऊ इसलिए होती है कि लोग उसका पानी ही न पियें? दूसरोको पानी पिलानेसे उन्हें हमारे पापका अश मिलेगा और हमारा पाप कुछ अशमे घटेगा, इस विचारम कहातक उदारता है? और फिर यह देखिए कि मै लोगोकी चिता करु और लोग मेरी चिता करें, इस तरहका द्राविडी प्राणायाम करनेके बदले क्या यही श्रेयस्कर नही है कि हरएक अपनी-अपनी फिक्र करे? शहरोमे फूहड स्त्रिया अपने बच्चोको रास्तेपर शौच कराती है। लेकिन मजा यह कि अपने घरकी अगल-बगल में गदगी न हो, इसलिए अपने बच्चोको दूसरोके घरोंके सामने बैठाती है। और दूसरे भी प्रतियोगी-सहयोगके सिद्धातके अनुसार उसके घरके सामने बैठाते है। इसके बदले सीधे अपने बच्चेको अपने घरके सामने बैठायें तो क्या हर्ज है? यह परार्थका तत्त्व भी इसी कोटिका है। इसलिए मनुष्यताका अपमान करनेवाली यह परार्थ-वृत्ति त्यागकर हरएक को स्वार्थ-साधना करते रहना चाहिए। दूसरेकी बहुत अधिक चिंता नही करनी चाहिए। सहानुभूतिके सुखके लिए या दूरदर्शी स्वार्थकी दृष्टिसे, तात्कालिक सुखका त्याग क्वचित् करना पडता है। उतना समझौता जरूर कर लेना चाहिए।"

काम, क्रोध और लोभ ये तीन नरकके दरवाजे माने है। इसलिए आक्षका मुख्य आक्रमण इन्हीपर होना स्वाभाविक है। इसलिए इन तीनोंके विषयम, समझौतेकी दृष्टिसे, धर्म और अर्थका क्या रुख हो सकता है, इसका विचार अबतक किया गया। आखिर काम भी एक पुरुषार्थ ही है। इसलिए उसका जो चित्र यहा खीचा गया है, वह शायद कुछ लोगोको अतिरजित मालूम होगा। लेकिन है वह बिल्कुल वस्तुस्थितिका निदर्शक। "स्वर्गकी गुलामीकी अपेक्षा तो नरकका अधिराज्य श्रेयस्कर है', मिल्टनके शैतानका

यह वाक्य भी इसी अर्थका द्योतक है। 'पुरुषार्थ' का अर्थ है पुरुषको प्रवृत्त करनेवाला हेतु। यह आवश्यक नहीं कि यह हेतु 'सद्धेतु' ही हो। हिंदू-धर्मने कामको भी पुरुषार्थ माना है। इसका यह अर्थ नहीं है कि उसने कामपर मान्यता (स्वीकृति) की मुहर लगा दी हो। यहां तो इतना ही अर्थ है कि काम भी मनुष्यके मनमें रहनेवाली एक प्रेरक शक्ति है। आत्मवान् पुरुष शायद उसे स्वीकार भी न करे। इसके विपरीत 'मोक्ष' की गिनती भी 'पुरुषार्थों' में करके हिंदू-धर्मने उसपर शक्यताकी मुहर नहीं लगाई है। वहां भी इतना ही अभिप्राय है कि मोक्ष भी मानवीय मनकी एक प्रेरक शक्ति है। देहधारी पुरुषके लिए उसकी आज्ञा मानना शायद असंभव भी हो।

शास्त्रकाराने तो केवल मनुष्यकी अत्युच्च और अतिनीच प्रेरणाओंकी तरफ संकेतमात्र किया है। मोक्ष परम पुरुषार्थ है, इसलिए अच्छा यह है कि मनुष्य उसकी तरफ अग्रसर हो। और काम अधम पुरुषार्थ है, इसलिए इरादा यह है कि जहांतक हो सके, उसकी शक्ल ही न देखी जाय। लेकिन इन दोनोंका मिलाप करनेकी प्रेरणा होना मनुष्यके लिए स्वाभाविक है। इसलिए धर्म और अर्थ नित्यकी दो प्रेरणाएं कही गई हैं। मनुष्यको संतोष देनेकी चेष्टा करनेवाले ये दो मध्यस्थ हैं। संस्कार भेदसे किसीको धर्म प्रिय होगा, किसीको अर्थ प्यारा लगेगा।

वल्लभाचार्यकी व्यवस्थाके अनुसार सृष्टिके तीन विभाग होते हैं— (१) पुष्टि, (२) मर्यादा और (३) प्रवाह। जो आत्म-साक्षात्कारका अमृत पीकर पुष्ट हो गये हैं, मोक्ष-शास्त्रके ऐसे उपासक पुष्टिकी भूमिकापर विहार किया करते हैं। माया नदीके प्रवाहमें बहे जानेवाले काम-शास्त्रके अनुयायी प्रवाह-पतित वासनाओंके गुलाम होते हैं। ये दोनों तरहके व्यक्ति समाज-शास्त्रकी मर्यादासे परे हैं। काम-कामी पुरुष समाजके सुखका विचार ही नहीं कर सकता, क्योंकि उसे तो अपना सुख देखना है। मोक्षार्थी पुरुष भी समाज-सुखकी फिक्र नहीं कर सकता, क्योंकि उसे किसीके भी सुखकी चिंता नहीं। कामशास्त्र स्व-सुखार्थी है और मोक्ष शास्त्र स्व-हितार्थी है। इस तरह दोनों स्व-अर्थी ही हैं। "प्रायेण देव-मुनयः स्व-मुक्तिकामा:"—

"देव या ऋषि भी प्राय: स्वार्थी होते हैं" यह भगवद्भक्त प्रह्लादकी प्रेमभरी शिकायत है। इन दो एकांतिक वर्गोंके सिवा सामाजिक कानूनों या नियमोंकी मर्यादाओंमें रहनेवाले जो लोग होते हैं उनके लिए धर्मशास्त्र या अर्थशास्त्रकी प्रवृत्ति है।

अब मोक्ष-शास्त्रके साथ न्याय करनेकी दृष्टिसे इतना तो मानना ही पड़ेगा कि जैसे काम-शास्त्रको समाजकी परवा नहीं है वैसे समाजको मोक्ष-शास्त्रकी कदर नहीं है। अर्थात् समाज और काम-शास्त्रके अनबनकी जिम्मेवारी अगर काम-शास्त्रपर है तो समाज और मोक्ष-शास्त्रके अनबनका दायित्व समाजपर ही है। मोक्ष-शास्त्र स्वहित-परायण तो है, परन्तु जैसा स्व-सुख और पर-सुखका विरोध है वैसा स्वहित और पर-हितका विरोध नहीं है। इसलिए जो 'स्व-हित'-रत होता है वह अपने आप ही 'सर्व भूत-हितेरत:' हो जाता है।

लेकिन मनुष्य ' 'सर्वभूत-हितेरत' होते हुए भी समाजको प्रिय नहीं होता। कारण यह कि समाज सुख-लोलुप होता है, उसे हितकी कोई खास परवा नहीं है। सात्त्विकता का जुल्म भी वह ज्यादा सह नहीं सकता। यह सच है कि संत जगतके कल्याणके लिए होते हैं। लेकिन यदि वे जगतके सुखके लिए हों तो समाजको प्रिय होंगे। ईसा, सुकरात, तुकाराम आदि संत समाजको प्रिय हैं, परन्तु अपने-अपने समयमें तो वे समाजको काटेकी तरह चुभते थे। आज भी वे इसलिए प्रिय नहीं हैं कि समाज उतना आगे बढ़ गया है, बल्कि इसलिए कि वे आज जीवित नहीं हैं।

अब, कामशास्त्र चूंकि बिल्कुल ही तामस और समाजकी अवहेलना करनेवाला है, इसलिए वह समाजका दुखदायी होता है। काम-शास्त्र समाजको 'दुःख' देता है, मोक्ष-शास्त्र 'हित' देता है इसलिए दोनों समाज-बाह्य हैं। कामशास्त्रका तामस 'प्रवाह' और मोक्ष-शास्त्रकी सात्त्विक, 'पुष्टि', दोनों समाजको एक-सी अपथ्यकर मालूम होती हैं। किसी-न-किसी मरीजकी ऐसी नाजुक हालत हो जाती है कि उसे अन्न दीजिए तो हजम नहीं होता और उपवास सहन नहीं होता। समाज भी एक ऐसा ही नाजुक

रोगी है। बेचारा चिकित्सकोके प्रयोगका विषय हो रहा है! उसके लिए तामस प्रवाह और सात्त्विक पुष्टि दोनों वर्ज्य ठहरे है, इसलिए उसपर राजस मर्यादाके प्रयोग हो रहे हैं। धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र दोनों समाजके लिए मर्यादाए कायम करनेवाले शास्त्र है। दोनोको राजस कहा जाय तो भी धर्मशास्त्रको सत्त्व-प्रचुर और अर्थशास्त्रको धर्म-प्रचुर कहना होगा। हमारे यहां मुख्यत: धर्मशास्त्रका विकास हुआ, पश्चिममें अर्थशास्त्रका हुआ।

थोडा-सा समुद्र-मथन करते ही विष निकल आया, परतु अमृत हाथ आनेके लिए बहुत परिश्रम करना पडा। उसी न्यायसे समाज-शास्त्रके जरा-से अध्ययनसे अर्थशास्त्रका जन्म होता है, लेकिन धर्मशास्त्रके उदयके लिए गभीर अध्ययनकी आवश्यकता होती है। हमारे यहां भी अर्थशास्त्र था। वह बिल्कुल रहा ही नही ऐसी बात नही है, परतु उसकी जहरीली तासीर जानकर समाज-शास्त्रका अधिक मथन किया गया और धर्मशास्त्र निकाला गया। आर्य-सस्कृतिमें अर्थशास्त्रका विकास नही हुआ, इसका यही कारण है। या फिर यह कहना ही गलत है कि विकास नही हुआ। पूर्ण विकास हुआ इसीलिए धर्मशास्त्रका उदय हुआ। पाश्चात्य अर्थशास्त्रके इतिहाससे भी इसी बातका प्रमाण मिल रहा है। "अर्थशास्त्रात्तु बलवद् धर्मशास्त्रमिति स्थितिः"—"अर्थशास्त्रसे धर्मशास्त्र अधिक प्रमाणभूत है" इस सिद्धातका जन्म हुए बिना अर्थशास्त्रका छुटकारा ही नही हो सकता। इस सिद्धातके जन्मके अरमान पाश्चात्य सस्कृतिको गत शताब्दीके उत्तरार्द्धसे होने लगे है।

अर्थशास्त्रके श्रम-विभागके तत्त्वसे अब सभी ऊबने लगे है। गरीब राष्ट्र आमरण 'अहमन्नम्, अहमन्नम्, अहमन्नम्—"मै खाद्य हूं, मै खाद्य हू, मै खाद्य हू"—ऐसी उपासना करे और बलवान् राष्ट्र 'अहमन्नाद, अहमन्नाद, अहमन्नाद'—"मै खानेवाला हू, मै खानेवाला हू, मै खानेवाला हू"—*यह मत्र जपते रहे, ऐसे नीच श्रम-विभागसे अब दुनिया बिल्कुल* उकता गई और चिढ गई है। रस्किन-जैसे दार्शनिको ने अर्थशास्त्रके विरुद्ध

जो मोर्चा शुरू किया उसे आगे चलानेवाले वीरोंकी परंपरा अव्याहत चल रही है और उस मोर्चेका अंत विजयमें ही होनेके स्पष्ट लक्षण दिखाई देने लगे हैं। 'अर्थशास्त्र' को शंकराचार्यने 'अनर्थशास्त्र' नाम कभीका दे रक्खा है। उसी नामका, 'डिस्मल साइंस' (काली विद्या) कहकर, जीर्णोद्धार पाश्चात्य लोग कर रहे हैं। इसीलिए अर्थशास्त्रके नए संशोधित संस्करण निकलने लगे हैं। इनसब लक्षणोंसे आशा की जा सकती है कि पाश्चात्य संस्कृतिकी कोखसे धर्मका अवतार होगा। पिछले महायुद्धसे तो प्रसव-वेदना भी शुरू होगई है, इससे कुछ लोगोंका खयाल है कि अब यह अवतार जल्दी ही होनेवाला है।

यह अवतार कितनी देरमें होनेवाला है। यह कहना कठिन है। लेकिन इस अवतारके आनेकी प्रारंभिक तैयारी करनेवाले नीति-शास्त्रका जन्म हो चुका है और वह दिन-पर-दिन बड़ा हो रहा है। धर्म-प्रधान पौरस्त्य संस्कृति और अर्थ-प्रधान पाश्चात्य संस्कृतिकी एक-वाक्यताकी आशा नीतिशास्त्रसे बहुत-कुछ की जा सकती है। लेकिन आकाश और पृथ्वीको स्पर्श करनेवाले क्षितिजकी रेखा जिस प्रकार काल्पनिक है उसी प्रकारकी स्थिति इस उभयान्वयी शास्त्रकी भी है। कोषका काम केवल भले-बुरे सभी तरहके शब्दोंका संग्रह करना है। इसलिए उसका अपना कोई भी विशेष संदेश नहीं होता। "तुम व्यवहार करते समय मेरा उपयोग कर सकते हो", इससे अधिक वह कुछ नहीं कह सकता। इसी तरह नीतिशास्त्रका कोई विशेष प्रमेय नहीं है। आशा लगाये 'मुझे वरतो, मुझे बरतो' कहते रहना ही उसके भागमें लिखा है। उसकी गिनती पुरुषार्थोंमें करनेकी किसीको नहीं सूझती।

नीतिशास्त्रका सिद्धांत ही यह है कि किसी भी सिद्धांतका अत्यधिक आग्रह नहीं रखना चाहिए। इसलिए इस बिंदुपर सारी दुनियाको एक किया जा सकता है। लेकिन 'संतोषसे रहो' 'हिलमिलकर रहो' या 'जैसे चाहो वैसे रहो'—इस तरहकी संदिग्ध सिफारिश करनेसे अधिक नीतिशास्त्र आज कुछ भी नहीं कर सकता। इसलिए उसके झंडेके नीचे सारा विश्व एकत्र होनेकी

है। ऐसा कहा जा सकता है। सभी पुरुषार्थोंकी शिक्षा इसी भाषामें दी जानी चाहिए। नीति पुरुषार्थ भले ही न हो, किंतु पुरुषार्थके शिक्षणका द्वार है। अगर पुरुषार्थोंका भाषांतर नीतिकी भाषामें किया जाय तो सभी पुरुषार्थोंका स्वरूप सौम्य तथा परंपरानुकूल प्रतीत होगा।

वसिष्ठ ऋषिके आश्रममें गाय और बाघ एक ही झरनेपर पानी पीते थे, ऐसा वर्णन है। इसका केवल इकहरा ही अर्थ नहीं है, प्रत्युत दोहरा अर्थ है—अर्थात् न केवल बाघकी क्रूरता ही नष्ट होती थी, बल्कि गायकी भीरुता भी नष्ट हो जाती थी। मतलब गाय ऋण भय-शेर ऋण शौर्य। इस तरह मेल बैठता है। नहीं तो शेर को गाय बनानेकी सामर्थ्य तो सर्कसवालोंमें भी है। उसके लिए ऋषिके आश्रमकी जरूरत नहीं है।

नीतिके आश्रममें भी सभी पुरुषोंका आग्रही या एकांगी स्वरूप बदलकर उनका समन्वय हो सकेगा। नीतिके शीशमेंसे चारों पुरुषार्थोंके रंग बिल्कुल बदले हुए नजर आयंगे। कामकी सुंदरता, अर्थकी उपयोगिता, धर्मकी पवित्रता और मोक्षकी स्वतन्त्रताका एकत्र दर्शन होगा और संपूर्ण जीवनकी यथार्थ कल्पना होगी। सौंदर्य, उपयोगिता, पावित्र्य और स्वातंत्र्य इन चारों दिशाओंका नीतिका आकाश स्पर्श करता है, इसलिए अगर चारों पुरुषार्थ ये नई पोशाक पहनना मंजूर कर तो उनका द्वैत कम होकर मनुष्यको संतोष होनेकी संभावना है।

परंतु आधुनिक नीतिशास्त्रका अपना कोई निश्चित सिद्धांत न होनेके कारण वह बिल्कुल खोखला हो गया है। इसलिए उससे ठोस संतोषकी आशा करना व्यर्थ है। दूसरी भाषामें, वर्तमान नीतिशास्त्रके आरंभ ही नहीं है, इसलिए उसका स्वरूप बहुत-कुछ शाब्दिक होगया है। चार पुरुषार्थोंके मिलापकी संभावना दिखाई जानेपर भी समझौता करनेका कर्तृत्व इस शास्त्रमें नहीं है, इसलिए इन कमीको पूर्ति करनेके उद्देश्यसे ऋषियोंने कर्तृत्वान योगशास्त्रका निर्माण किया। समझौतेकी पूर्व

तैयारीके लिए नीतिशास्त्रको धन्यवाद देकर अगले कार्यके लिए इस योग-शास्त्रकी शरण लेनी पडेगी। 'अथ योगानुशासनम्'।

'महाराष्ट्र-धर्म जनवरी, १९२३

: ५ :

परशुराम

यह एक अद्भुत प्रयोगी लगभग पच्चीस हजार बरस पहले होगया है। यह कोकणस्थोका मूल पुरुष है। माकी ओरसे क्षत्रिय और बापकी तरफसे ब्राह्मण। पिताकी आज्ञासे इसने माका सिर ही काट डाला था। कोई पूछ सकते है, 'यह कहातक उपयुक्त था?' लेकिन उसकी श्रद्धाको सशकता छू तक नही गई थी। 'निष्ठासे प्रयोग करना और अनुभवसे ज्ञान प्राप्त करना', यही उसका सूत्र था।

परशुराम उस जमानेका सर्वोत्तम पुरुषार्थी व्यक्ति था। उसे दुखियोके प्रति दया थी और अन्यायोसे तीव्रतम चिढ। उस समयके क्षत्रिय बहुत ही उन्मत्त होगए थे। वे अपनेको जनताका 'रक्षक' कहते थे; लेकिन व्यवहारमे तो उन्होने कभीका 'र' को 'भ' मे बदल दिया था। परशुरामने उन अन्यायी क्षत्रियोका घोर प्रतिकार शुरू किया। जितने क्षत्रिय उसके हाथ आये उन सबको उसने मार ही डाला। 'पृथ्वीको नि.क्षत्रिय बनाकर छोड़ूगा', यह उसने अपना विरद बना लिया था।

इसके लिए वह अपने पास हमेशा एक कुल्हाड़ी रखने लगा। और कुल्हाडीसे रोज कम-से-कम एक क्षत्रियका सिर तो उडाना ही चाहिए, ऐसी उपासना उसने अपने ब्राह्मण अनुयायियोमें जारी की। पृथ्वी नि क्षत्रिय करनेका यह प्रयोग उसने इक्कीस बार किया। लेकिन पुराने क्षत्रियोको जानबूझकर खोज-खोजकर मारने और उनकी जगह धनजाने नए-नए क्षत्रियोंका निर्माण करनेकी प्रक्रियाका फलित भला क्या हो सकता था? आखिर रामचद्रजीने उसकी आखोमे अजन डाला। तबसे उसकी दृष्टि कुछ सुधरी।

तब उसने उस समयके कोंकणके घने जगल तोड-तोडकर बस्तिया बसानेके रचनात्मक कार्यका उपक्रम किया। लेकिन उसके अनुयायियोको कुल्हाडीके हिंसक प्रयोगका चस्का पड गया था। इसलिए उन्हें कुल्हाडीका अपेक्षाकृत अहिंसक प्रयोग फीका-सा लगने लगा। निर्धनको जिस प्रकार उसके सगे-सबधी त्याग देते हैं, उसी प्रकार उसके अनुयायियोने भी उसे छोड दिया।

लेकिन वह निष्ठावान् महापुरुष अकेला ही वह काम करता रहा। ऐच्छिक दरिद्रताका व्रत धारण करनेवाले, आरण्यक प्रजाके आदि सेवक भगवान शकरके ध्यानसे वह प्रतिदिन नई स्फूर्ति प्राप्त करने लगा और जगल काटना, झोपडियां बनाना, वन्य पशुओकी तरह एकाकी जीवन व्यतीत करनेवाले अपने मानव बधुओको सामुदायिक साधना सिखाना—इन उद्योगोमे उस स्फूर्तिसे काम लेने लगा। निष्ठावत और निष्काम सेवा ज्यादा दिन एकाकी नही रहने पाती। परशुरामकी अदम्य सेवावृत्ति देख कोंकणके जगलोंके वे वन्य निवासी पिघल गये और आखिर उन्होने उसका अच्छा साथ दिया। अपने-आपको ब्राह्मण कहलानेवाले उसके पुराने अनुयायियोंने तो उसका साथ छोडकर शहरोकी पनाह ली थी, मगर उनके बदले ये नए अवर्ण अनुयायी उसे मिले। उसने उन्हें स्वच्छ आचार, स्वच्छ विचार और स्वच्छ उच्चारकी शिक्षा दी। एक दिन परशुरामने उनसे कहा, "भाइयो, आजसे तुम लोग ब्राह्मण हो गये।"

राम और परशुरामकी पहली भेट धनुर्भंग-प्रसग के बाद एक बार हुई थी। उसी वक्त उसे रामचद्रजीसे जीवन-दृष्टि मिली थी। उसके बाद इतने दिनोमे उन दोनोकी भेट कभी नहीं हुई थी। लेकिन अपने वनवासके दिनोंमें रामचद्र पचवटी आकर रहे थे। उनके वहाके निवासके आखिरी वर्षमें बागलाणकी तरफसे परशुराम उनसे मिलने आया था। जब वह पचवटीके आश्रमको पहुचा, उस समय रामचद्र पौधोको पानी दे रहे थे। परशुरामसे मिलकर रामचद्रको बडा ही आनद हुआ। उसने उस तपस्वी

और वृद्ध पुरखा साष्टांग प्रणाम-पूर्वक स्वागत किया और कुशल-प्रश्नादिके बाद उसके कार्यक्रमके बारेमें पूछा। परशुरामने कुल्हाड़ीके अपने नए प्रयोगका सारा हाल रामचद्रको सुनाया। यह सुन रामचद्रने उसका बड़ा गौरव किया। दूसरे दिन परशुराम वहासे लौटा।

अपने मुकाम पर वापस आते ही उसने उन नए ब्राह्मणोंको रामका सारा हाल सुनाया और बोला,

"रामचद्र मेरा गुरू है। अपनी पहली ही भेंटमें उसने मुझे जो उपदेश दिया, उससे मेरी वृत्ति पलट गई और मैं तुम्हारी सेवा करने लगा। अबकी मुलाकातमें उसने मुझे शब्दों द्वारा कोई भी उपदेश नहीं दिया। लेकिन उसकी कृतियोंसे मुझे उपदेश मिला है। वही मैं अब तुम लोगोंको सुनाता हू।

"*हम लोग जगल काट-काटकर बस्ती बसानेका यह जो कार्य कर रहे हैं, यह बेशक उपयोगी काम है। लेकिन इसकी भी मर्यादा है।* उस मर्यादाको न जानकर हम अगर पेड़ काटते ही रहेंगे, तो वह एक बड़ी भारी हिंसा होगी। और कोई भी हिंसा अपने कर्तापर उलटे बिना नहीं रहती, यह तो मेरा अनुभव है। इसलिए अब हम पेड काटनेका काम खत्म करें। आजतक जितना कुछ किया, सो ठीक ही किया, क्योंकि उसीकी बदौलत पहले जो 'अ-सह्याद्रि' था, वह अब 'सह्याद्रि' बन गया है। लेकिन अब हमें जीवनोपयोगी वृक्षोंके रक्षणका काम भी अपने हाथमें लेना चाहिए।"

यह कहकर उसने उन्हें आम, केले, नारियल, काजू, कटहल, अनन्नास आदि छोटे-बड़े फलके वृक्षोंके सगोपनकी विधि सिखाई। उसे इसके लिए स्वय वनस्पति-सवर्द्धन शास्त्रका अध्ययन करना पड़ा और उसने अपने हमेशाके उत्साहसे उस शास्त्रका अध्ययन किया भी। उसने उस शास्त्रमें कई महत्त्वपूर्ण शोध भी किये। पेड़ोंको मनोज्ञ आकार देनेके लिए उन्हें व्यवस्थित काटने-छाटनेकी जरूरत महसूसकर उसने उसके लिए छोटे-से औजारका आविष्कार किया। इस औजारको 'नव-परशु' का नाम देकर उसने अपनी परशु-उपासना अखड जारी रखी।

एक बार उसने अपनी समुद्रतटपर नारियलके पेड़ लगानेका एक सामुदायिक समारोह संपन्न किया। उस अवसरसे लाभ उठाकर उसने वहां आए हुए लोगोंके सामने अपने जीवनके सारे प्रयोगों और अनुभवोंका सार उपस्थित किया। सामने पूरे ज्वारमें समुद्र गरज रहा था। उसकी तरफ इशारा करके समुद्रवत् गंभीर ध्वनिमें उसने बोलना आरंभ किया—

"भाइयो, यह समुद्र हमें क्या सिखा रहा है, इसपर ध्यान दीजिए। इतना प्रचंड शक्तिशाली है यह; परंतु अपने परम उत्कर्षके समय भी वह अपनी मर्यादाका उल्लंघन नहीं करता। इसलिए उसकी शक्ति हमेशा ज्यों-की-त्यों रही है। मैंने अपने सारे उद्योगों और प्रयोगोंमेंसे यही निष्कर्ष निकाला है। छुटपनमें मैंने पिताकी आज्ञासे अपनी माताकी हत्या की। लोग कहने लगे, 'कैसा मातृ हत्यारा है!' मैं उस आक्षेपको स्वीकार करनेको तैयार नहीं था। मैं कहा करता, 'आत्मा अमर है और शरीर मिथ्या है। कौन किसे मारता है? मैं मातृ-हत्यारा नहीं हूं; प्रत्युत पितृभक्त हूं'।

"लेकिन आज मैं अपनी गलती महसूस करता हूं। मातृवधका आरोप मुझे उस वक्त स्वीकार नहीं था, और आज भी नहीं है। लेकिन मेरे ध्यानमें यह बात नहीं आई थी कि पितृभक्तिकी भी मर्यादा होती है। यही मेरा वास्तविक दोष था। लोग अगर उतना ही दोष बताते तो उससे मेरी विचार-शुद्धि हुई होती। लेकिन उन्होंने भी मर्यादाका अतिक्रमण करके मुझपर आक्षेप किया और उससे मेरी विचार-शुद्धिमें कोई सहायता नहीं पहुंची।"

"बादमें बड़ा होनेपर अन्यायके प्रतिकारका व्रत लेकर मैं जुल्मी सत्तासे इक्कीस बार लड़ा। हर बार मुझे ऐसा प्रतीत होता था कि मैं सफल हो गया हूं, लेकिन प्रत्येक मर्तबा मुझे निश्चित असफलता ही नसीब हुई। रामचंद्रने मेरी गलती मुझे समझा दी।

"अन्याय प्रतिकार मनुष्यका धर्म तो है; लेकिन उसकी भी एक शास्त्रीय मर्यादा है, यह ज्ञान मुझे गुरु-कृपाकी बदौलत प्राप्त हुआ।

"इसके उपरांत मैं जंगल काटकर मानव-उपनिवेश बसानेके, मानव-सेवाके कार्यमें जुट गया, लेकिन आप जानते ही हैं कि जंगल काटनेकी भी एक हद होती है, इस बातका ज्ञान मुझे ठीक समयपर कैसे हुआ।

"अबतक मैं निरंतर प्रवृत्तिका आचरण करता रहा। पर आखिर प्रवृत्तिकी भी मर्यादा तो है ही न ? इसलिए अब मैं निवृत्त होनेकी सोच रहा हूं। इसके मानी यह नहीं है कि मैं कर्म ही त्याग दूंगा। स्वतंत्र नई प्रवृत्तिका आरंभ अब नहीं करूंगा। प्रवाह-पतित करता रहूंगा। प्रसंगवश आप पूछेंगे तब, सलाह भी देता रहूंगा।

"इसलिए मैंने आज जानबूझकर इस समारोहका आयोजन किया और अपना यह 'समुद्रोपनिषत्' या 'जीवनोपनिषत्', चाहे जो कह लीजिए, आपसे निवेदन किया है। फिर-से थोड़ेमें कहता हूं. पितृ-भक्तिकी मर्यादा, प्रतिकारकी मर्यादा, मानव-सेवाकी मर्यादा—सारांश सभी प्रवृत्तियोंकी मर्यादा—यही मेरा जीवनसार है। आओ, एक बार सब मिलकर कहें, "ॐ नमो भगवत्यै मर्यादायै।"

इतना कहकर परशुराम शांत होगया। उसके उपदेशकी यह गंभीर प्रतिध्वनि सह्याद्रिकी खोह-कंदराओंमें आज भी गूंजती हुई सुनाई देती है।
ग्रामसेवा-वृत्तसे : नागपुर जेल, १९४१

: ६ :

चिर-तारुण्यकी साधना

तुम्हारे खेल देखकर आनंद हुआ। देशका भविष्य तुम बाल-गोपालोंके हाथमें है। तुमने जो खेल दिखाए, वे किसलिए हैं ? शक्ति प्राप्त करनेके लिए हैं, शक्ति किसलिए ? गरीब लोगोंकी रक्षाके लिए, इसलिए कि गरीबोंके लिए हम उपयोगी हो सकें। शरीर घिसानेके लिए तगड़ा बनाना है। चाकूम धार किसलिए लगाई जाती है ? इस-

रामके भरोसे यहा आया हू। मेरे बाजुओमें जोर है या नही, यह मुझे नही मालूम। परतु रामका बल अवश्य मेरे पास है।"

और जरा गहराईसे सोचो, तो बाहुबलका भी क्या अर्थ है? बाहु-बलके मानी है शारीरिक श्रम करनेकी शक्ति। इसीके लिए यह हाथ हैं। सेवाके लिए ही हम हस्तवान् हैं। पशुके हाथ नही हैं। भुजाओके बलके प्रयोगसे हम अन्नका निर्माण करें, सेवा करे। हमारी कलाइयोमें यह जो सेवा करनकी शक्ति है, वह किसकी शक्ति है? हनूमान जानता था कि वह आत्माकी शक्ति है, रामकी शक्ति है।

जिस बलकी आत्मामे श्रद्धा न हो, राममें श्रद्धा न हो, वह बल निकम्मा होता है। अमृतसरमे कत्ले-आम हुआ। उसके बाद लोगोको तेजोभग करनेके इरादेसे, उन्हे शर्मिदा करनकी मशासे, रास्तेमे पेटके बल चलाया गया। पहाड-जैसे पजाबी लोग, ऊचे-पूरे, तगडे डील-डौलवाले। लेकिन वे भी पेटके बल रेगने लगे। क्योकि राममे उनकी श्रद्धा नही थी। आत्माकी निर्भयता वे जानते नही थे। आज बगालमे भी यही हाल है। लोगोपर मन-मानी पाबदिया लगाई जा रही हैं। रास्तेसे फौज गुजर रही हो तो सलाम करने आना पड रहा है। क्या कारण है? आत्माकी निर्भयता गले नही उतरती। जिसने रामका बल पहचान लिया, वह कलिकालसे भी नही डरा करता। शरीर-बल रामके लिए है। वह सेवाके लिए है, भोगके लिए नही है।

दूसरी बात यह है भुजाओंमें जो बल है, वह तुच्छ वस्तु है। वह बल निराधार है। यह बल आत्मश्रद्धापर सुप्रतिष्ठित होना चाहिए। निर्बलोंमें भी आत्मश्रद्धासे बल पैदा हो जाता है। उपनिषद् कह रहे हैं कि जिसमें श्रद्धाका बल है, वह दूसरे सौ आदमियोको कपा देगा। इसलिए आध्यात्मिक बलकी उपासना चाहिए।

हनूमानमे पशुबल नही था। हनूमानका जो स्तुतिश्लोक है, उसमें दूसरे सारे बलोका वर्णन है, परतु शरीर-बलका उल्लेख कही नहीं है।

यथा—

मनोजवं मारुत-तुल्य-वेगम्,
जितेंद्रियं बुद्धिमतांवरिष्ठम् ।
वातात्मजं वानरयूथ-मुख्यम्,
श्रीराम-दूतं शरणं प्रपद्ये ।।

(मनके समान वेगवान, वायुके समान वेगवान, जितेंद्रिय, बुद्धिमानोंमें वरिष्ठ, पवनसुत, वानरोंके सेनापति, रामदूतको मैं शरण जाता हूं।)

हनुमान मन और पवनके समान वेगवान थे। वह जितेन्द्रिय थे, वह अत्यंत बुद्धिमान थे, वह नायक थे, वह रामदूत थे—इन सारी बातोंका वर्णन है। हनुमान बलका देवता है। लेकिन इस स्तुतिमें बलका जिक्र तक नहीं! क्या यह आश्चर्यकी बात नहीं है? परंतु ये गुण ही वास्तविक बल हैं। ये गुण ही यथार्थ कार्य-शक्ति हैं।

मनुष्यमें वेग चाहिए, स्फूर्ति चाहिए, मनके समान वेग चाहिए, सामने काम देखते ही उसे चटसे आनंदसे छलांग मारनी चाहिए। सिंहगढ़ फतह करनेका संदेशा आते ही तानाजी चल पड़ा। नहीं तो, मनमें सेवाकी मुराद है, लेकिन शरीर टस-से-मस नहीं होता; वह आलसमें लोट-पोट हो रहा है। ऐसा शरीर किस कामका? ज्ञानेश्वरने बड़ा सुंदर वर्णन किया है। सेवक कैसा चाहिए? ज्ञानेश्वर कहते हैं—"आंग मनापुढ़ें धें दौड़ा"—शरीर मनके आगे-आगे दौड़ता है। कोई बात मनमें आनेसे पहले ही शरीर दौड़ने लग जाता है।

शरीरमें इस तरहका वेग होनेके लिए ब्रह्मचर्य चाहिए। जितेंद्रियत्व चाहिए, इन्द्रियोंपर काबू चाहिए। संयमके बिना यह बल नहीं मिल सकता। वेग और संयमके साथ-साथ बुद्धि भी चाहिए, कर्म-कुशलता भी चाहिए, कल्पना-शक्ति चाहिए और चाहिए प्रतिभा। सिर्फ फरमाबरदारी ही काफी नहीं है। इनके अलावा रामकी सेवाकी भावना चाहिए। जहां राम कहे, वहां जानेके लिए दिन-रात तैयार रहना चाहिए।

हिंदुस्तानके करोडो देवता तुम्हारी सेवाके इच्छुक हैं। उन्हे तुम्हारी सेवाकी जरूरत है। उस सेवाके लिए तैयार रहो। वेगवान, बुद्धिमान, सयमी, सेवाके शौकीन तरुण बनो। शारीरिक वल कमाओ, प्रेम कमाओ। अभी मैंने इस व्यायाम-शालाके अखाडेमे कुश्तिया देखी। एक कुश्ती एक हरिजन और ब्राह्मणम हुई। मैंने उसमे समभाव पाया। अगर हम इसी समभावमे आइदा व्यवहार करेंगे तो समाज बलवान होगा। अगर तुम इस समभावका पोषण करोगे तो तुम जो खेल खेले, जो कुश्तिया लडे, उनमेसे कल्याण ही होगा।

खेलमे हम समभाव सीखते है। शिस्त, (अनुशासन) व्यवस्थाका महत्व सीखते हैं। इन खेलोंके अलावा दूसरे भी अच्छे खेल खेले जा सकते हैं। खेतकी जमीन खोदना भी एक खेल ही है। एक साथ कुदालिया ऊपर उठती हैं, एक साथ जमीनमे घुस रही हैं,—कैसा सुदर दृश्य दिखेगा। इस खेलमें आदर्श व्यायाम होगा। उसमे बुद्धिके प्रयोगकी भी गुजाइश है। व्यायाममें बुद्धिको भी गति मिलनी चाहिए। इसलिए मेरे मतसे व्यायाम भी, कुछ-न-कुछ उत्पादन करनेवाला होना चाहिए।

यहाके खेलोसे तुम्हारे अदर शक्ति और प्रेम दोनो पैदा हो। सब तरहके, सब जातियोके, लडके एकत्र होते हैं, एक साथ खेलते हैं। इससे प्रेमका विकास होता है। ये सस्मरण अगले जीवनमे उपयोगी होते हैं। हम साथ-साथ खेले, कुश्ती लडे, साथ-साथ शक्ति कमाई, ज्ञान कमाया, हाथ मिलाया, आदि सस्मरणोसे आगे चलकर तुम एकत्र होगे। सघशक्ति और सहकार्य बढेगा।

तुम गणवेश (वर्दिया) पहने हो। इनका उद्देश्य भी आत्मीयता बढाना ही है। परतु तुम्हारी पोशाक खादीकी ही हो। जो कमर-पट्टे तुम बरतोगे, वे भी मुर्दार चमडेके हो। हमको सर्वत्र सचेत रहना चाहिए। बूद-बूदसे ही घडा भरता है। राष्ट्रमे सब तरफ सूराख-ही-सूराख होगये हैं। सपत्ति लगातार बाहर जा रही है। इसकी तरफ ध्यान दो।

तुमने कसरत की। लेकिन दूध और रोटी न मिली, तो कैसे काम चलेगा। अगर तुम्हें दूध चाहिए, तो गोरक्षण भी होना चाहिए। गोरक्षणके लिए गायके—मरी हुई गायके—चमड़ेसे बनी हुई चीजें ही बरतनी चाहिए। रोटीके लिए किसानको जिलाना चाहिए। खादी खरीदकर हम उनकी थोड़ी-सी मदद करेंगे, तो वे जियेंगे और हमें रोटी मिलेगी। तुम्हें अगर घरपर रोटी नहीं मिलती, तो यहां आकर कितनी उछल-कूद करते? तुम जानते हो कि घरपर रोटी तैयार है, इसलिए यहां कूदे-फादे। अन्न कूदने-फादनेकी शक्ति देता है। इसलिए उपनिषद् कहता है—**अन्नं वाव बलाद् भूयः** (अन्न, बलसे श्रेष्ठ है) राष्ट्रमें अगर अन्न न होगा, तो बल कहांसे आयगा? पहले अन्नका इंतजाम करो, तब कहीं अखाड़े चलेंगे। पहले अन्नका प्रबंध होगा तब ज्ञानदानका प्रबंध हो सकेगा।

एकबार भगवान बुद्धका एक प्रचारक घूम रहा था। उसे एक भिखारी मिला। वह प्रचारक उसे धर्मका उपदेश देने लगा। उस भिखारीने उसकी तरफ ध्यान नहीं दिया। उसमें उसका मन ही नहीं लगता था। प्रचारक नाराज हुआ। बुद्धके पास जाकर बोला, "वहां एक भिखारी बैठा है, मैं उसे इतने अच्छे-अच्छे सिखावन दे रहा था, तो भी वह सुनता ही नहीं।" बुद्धने कहा, "उसे मेरे पास लाओ।" वह प्रचारक उसे बुद्धके पास ले गया। भगवान बुद्धने उसकी दशा देखी। उन्होंने ताड़ लिया कि यह भिखारी तीन-चार दिनोंसे भूखा है। उन्होंने उसे भरपेट खिलाया और कहा, "अब जाओ।" प्रचारकने कहा, "आपने उसे खिला तो दिया, लेकिन उपदेश कुछ भी नहीं दिया।" भगवान बुद्धने कहा, "आज उसके लिए अन्न ही उपदेश था। आज उसे अन्नकी ही सबसे ज्यादा जरूरत थी। वह उसे पहले देना चाहिए। अगर वह जीयेगा तो कल सुनेगा।"

हमारे राष्ट्रकी आज यही दशा है। आज राष्ट्रमें अन्न ही नहीं है। रामदासके जमानेमें अन्न भरपूर था। आजकी तरह उस समय हिंदुस्तानकी संपत्तिका सोता सूखा नहीं था। इसलिए उन्होंने प्राणका, बलका, उपासनाका, उपदेश दिया। आज देहातोंमें सिर्फ अखाड़े खोल देनेसे काम नहीं चलेगा।

जब राष्ट्रमे अन्नकी उपज और गोसेवा होगी, तभी राष्ट्रका सवर्धन होगा। बलवान तरुणाको राष्ट्रमें अन्न और दूधकी अभिवृद्धि करनी चाहिए। हिंदुस्तानको फिरसे 'गोकुल' बनाना है। यह जब बनाओगे तब बनाओगे परन्तु आज तो खादीकी पतलून पहनकर और मरे हुए--मारे हुए नहीं--जानवरके चमडेका पट्टा पहनकर अन्नदान और गोपालनमे हाथ बटाओ।

खादी पोशाक करो। लेकिन यह पोशाक करके गरीबोंके पेट मत मारो। तुम गरीबोंके सरक्षणके लिए कवायद करोगे। लेकिन गरीब जब जीयग तभी तो उनका रक्षण करोग न? तुम खाकी परिधान करके देशके बाहर पैसे भेजोगे और इधर गरीब मरेंगे। फिर सरक्षण किसका करोगे? तुम पैसे तो विदेश भजोग और दूध-रोटी मांगोगे देहातियोंसे? वे तुम्हे कहासे दग? इसलिए खाकी ही पहननी हो, तो खाकी खादी पहनो।

तुम्हारे गणवेश (वर्दिया) खादीके है, तुम्हारी सस्थामें हरिजन भी आते हैं, य बातें बडी अच्छी हैं। लेकिन मुसल्मानाकी मुमानियत क्यो? हिंदू-मुसल्मानाको एकत्र होन दो। कम-से-कम मुमानियत तो न करो। उन्हे यहा लानेकी कोशिश करो। तुम हिंदू-मुसलमान एक ही देशके हो। एक ही देशके हवा-पानी, अन्न, प्रकाशपर पल रह हो। अगर हिंदू यहाके हैं तो मुसलमान बाहरके कैसे? और अगर मुसल्मान बाहरके है, तो हिंदू भी बाहरके है। लोकमान्य कहते है कि हिंदू लोग उत्तर ध्रुवकी तरफसे आए। हिंदू अगर पाच-दस हजार साल पहले आए, तो मुसलमान हजार साल पहले आए। परन्तु आजकी भाषामें तो यहाके कहे जायग। दोनो भारतमाताके ही लाल हैं।

सब धर्मोके विषयमें उदार भावना रखो। जो सच्चा मातृ-भक्त है, वह सभी माताआको पूज्य मानेगा। वह अपनी माताकी सेवा करेगा, लेकिन दूसरेकी माताका अपमान नहीं करेगा। हरएक अपनी माके दूध-पर पलता है। धम माताके समान है। मुझे मेरी धर्म माता प्रिय है। मैं मातृपूजक हू, इसलिए मैं दूसरेकी माताकी निंदा तो हरगिज नही करूगा। उलटे, उस माताका भी वदन करूगा।

दिलमे यह भाव पैदा होनेके लिए यथार्थ हरिभक्तिकी जरूरत है। चित्तमें यथार्थ भक्ति जाग्रत होनेपर यह सब होगा। बाहर उपासना और अदर उपासना—दोनों चाहिए। बाहर खेल चाहिए, भीतर प्रेम चाहिए। खेलो के द्वारा शरीर फुर्तीला और सुभग बनाकर आत्माको सौंपना है। शरीर आत्माका हथियार है। हथियार भली-भांति उपयोगी होनेके लिए स्वच्छ चाहिए। शरीर ब्रह्मचर्यके द्वारा स्वच्छ करके आत्माके हवाले करो।

शरीर स्वच्छ रखो, उसी प्रकार मनको भी प्रसन्न, प्रेमल, निर्मल और सम रखखो। खेलनेकी बाह्य क्रियासे शरीर स्वच्छ रहेगा। उपासनासे भीतरी शरीर याने मन निर्मल रहेगा। अतर बाह्य शुचि बनो, जैसा यह हनूमान है—बलवान् और भक्तिवान, सेवाके लिए निरतर तत्पर। तुम उम्रसे तरुण होते हुए भी अगर चपल न होगे, सेवाके लिए शरीर चटमे उठता न होगा, तो तुम बूढे ही हो। जिसके शरीरमे वेग है, वह तरुण है; चाहे उसकी अवस्था कुछ भी हो। हनूमान कभी बूढे नहीं हो सकते। वह चिर-तरुण है। चिरजीव है।

ऐसे चिरतरुण तुम बनो। तुम दीर्घायु होकर उम्रसे वृद्ध होगे, उस वक्त भी तरुण रहो। वेग बनाए रखो। बुद्धि सावित रक्खो। मैं ईश्वरसे प्रार्थना करता हू कि हमारे तरुण इस प्रकार तन्मय बुद्धिसे जनताकी और उसके द्वारा परमेश्वरकी सेवा करनेमे जुट जाय।[1]

सर्वोदय : नवंबर, १९४१

[1] धूलिया (खानदेश) की 'विजय-व्यायामशाला' में दिये गये प्रवचनका मुख्य अंश।

: ७ :

गृत्समद

यह एक मंत्रद्रष्टा वैदिक ऋषि था। वर्तमान यवतमाल जिलेके कलंब गांवका रहनेवाला था। गणपतिका महान् भक्त था। 'गणानां त्वा गणपतिं हवामहे' (हम आपको जो कि समूहोंके अधिपति हैं, आवाहन करते हैं) यह सुप्रसिद्ध मंत्र इसीका देखा हुआ है। ऋग्वेदके दस मंडलोंमेंसे द्वितीय मंडल समूचा इसीका है। इस मंडलमें तैंतालीस सूक्त हैं और मंत्र संख्या चार सौ के ऊपर है। ऋग्वेद जगतका अतिप्राचीन और पहला ग्रंथ माना जाता है। ऋग्वेदके भी कुछ अंश प्राचीनतर हैं। इन प्राचीनतर अंशोंमें द्वितीय मंडलकी गणना होती है। इसपरसे इतिहासज्ञ इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि गृत्समद करीब बीस हजार वर्ष पहले हुआ। गृत्समदका यह मंडल सूक्तसंख्या और मंत्रसंख्याके लिहाजसे ऋग्वेदके करीब पच्चीसवें हिस्सेके बराबर होगा।

गृत्समद हरहुनरी आदमी था। ज्ञानी, भक्त और कवि तो वह सत्साधक था ही, लेकिन इसके अलावा, गणितज्ञ, विज्ञान-वेत्ता, कृषि-संशोधक और मजा हुआ बुनकर भी था। जीवनके छोटे-बड़े किसी भी अंगकी उपेक्षा वह सहन नहीं कर सकता था। वह हमेशा कहा करता था, "प्राये प्राये जिगीवांस: स्याम" "हम हरएक व्यवहारमें विजयी होना चाहिए।' और उसके ज्वलंत उदाहरणके कारण आसपास रहनेवाले लोगोंमें उत्साहका जाग्रत वातावरण बना रहता था।

गृत्समदके जमानेमें नर्मदासे गोदावरीतकका सारा भूप्रदेश जंगलोंसे भरा हुआ था। पांच पच्चीस मीलोंके अंतरपर एकाध छोटी-सी बस्ती हुआ करती थी। शेष सारा प्रदेश निर्जन। आसपासके निर्जन वनमें बसी हुई गृत्समदकी एकमात्र बड़ी बस्ती थी। इस बस्तीने संसारका, कपासकी खेतीका, सबसे पहला सफल प्रयोग देखा। आज तो बरार कपासका भंडार

बन गया है। गृत्समदके कालमे वरारमें आजकी अपेक्षा वारिदाका परिमाण ज्यादा था। उतना पानी सोख लेनेवाला कपासका पौधा गृत्समदने तैयार किया और उसे एक छोटे-से प्रयोगक्षेत्रमें लगाकर उससे दस सेर कपास प्राप्त किया। गृत्समदकी इस नई पैदावारको लोगोने 'गार्त्समदम्' नाम दिया। क्या इसीका ही लैटिन रूप 'गौतिपियम्' हो सकता है?

उसकी बस्तीके लोग ऊन कातना बुनना अच्छी तरह जानते थे। यह कार्य मुख्यत स्त्रियोके सिपुर्द था। आज बुननेका काम पुरुष करते है और स्त्रिया कुकडी भरने, माडी लगाने आदिमे उनकी मदद करती हैं। किंतु वैदिक कालमे बुनकरोका एक स्वतत्र वर्ग नही बना था। खेतीकी तरह बुनना भी सभीका काम था। उस युगकी ऐसी व्यवस्था थी कि सारे पुरुष खेती करते थे और सारी स्त्रिया घरका काम-काज सम्हालकर बुनती थी। 'साझको सूर्य जब अपनी किरणे समेट लेता है, तब बुननेवाली भी अपना अधूरा बुना हुआ धागा समेट लेती है—'पुन समव्यत् विततं वयंती'—इन शब्दोमे गृत्समदने बुननेवालीके जीवन-काव्यका वर्णन किया है।

गृत्समदके प्रयोगके फलस्वरूप कपास तो मिल गया, लेकिन, 'कपडा कैसे बनाया जाय'? यह महान प्रश्न खडा हुआ? ऊन कातनेकी जो लकडी-की तकली होती थी, उसीपर सबने मिलकर कपासका सूत कात लिया। यद्यपि बुनाई स्त्रियोंके ही सिपुर्द थी, तो भी कातनेका काम तो स्त्री, पुरुष, बालक, वृद्ध सभी किया करते थे। सूत तो निकला, लेकिन बिलकुल रद्दी। अब उसे कोई बुने भी कैसे?

लगानेमे टूटे हुए तारोकी सख्या चार अकोकी (हजारकी) थी। बादमे तागा करघेपर चढाया गया। हत्थेकी पहली चोटके साथ चार-पाच तार टूटे। उन्हें जोडकर फिरसे ठोका, फिरसे टूटा। इसी तरह कितने ही हफ्तोंके बाद पहला थान बुना गया। उसके बाद सूत धीरे-धीरे सुधरता चला। लेकिन फिर भी शुरूके बारह वर्षोंमे बुनाईका काम बडा ही कष्टकर होगया था। गृत्समदकी आयुके ये बारह वर्ष यथार्थ तपश्चर्याके वर्ष थ। वह इतना उत्साही और ततु-ब्रह्म ओतु-ब्रह्म ठोक-ब्रह्म और टूट-ब्रह्म की ब्रह्ममय वृत्तिसे बुनाईका काम करनेवाला होता हुआ भी, जब सूत लगातार टूटने लगते थे तो वह कभी-कभी पस्त-हिम्मत हो जाता था। एसे ही एक अवसरपर उसने ईश्वरसे प्रार्थना की थी, **'देवाः मा ततुश्छेदि वयत'**—बुनते वक्त ततु टूटने न दे। लेकिन ऐसी गलत प्रार्थना करनके लिए वह तुरत ही पछताया था। इसलिए उस प्रार्थनामे **'धिय मे'** यानं मेरा ध्यान' ये दो शब्द मिलाकर उसे सवार लिया। "जब मै अपना ध्यान बुनता होऊ, तो उसका ततु टूटने न दे"—ऐसा उस सशोधित और परिवर्द्धित प्रार्थनामेसे सुशोभित अर्थ निकला। उसका भावार्थ इस प्रकार है।—"मै जो खादी बुना करता हू, यह मेरी दृष्टिसे केवल एक बाह्य-क्रिया नही है। यह तो मेरी उपासना है। यह ध्यानयोग है। बीच-बीचमें धागोके टूटते रहनेसे मेरा ध्यान-योग भग होने लगता है, इसका मुझे दुख है। इसलिए यह इच्छा होती है कि धागे न टूटने चाहिए। लेकिन यह इच्छा उचित होते हुए भी, प्रार्थनाका विषय नही हो सकती। उसके लिए सूतम उन्नति करनी चाहिए। और वह कर लूगा। लेकिन जबतक सूत कच्चा रहेगा, तबतक वह टूटता तो रहेगा ही। इसलिए अब यही प्रार्थना है कि सूतके साथ-साथ मेरी अतर्वृत्तिका, मेरे ध्यानका, धागा न टूटे।

गृत्समद अखड अतर्मुख वृत्ति रखनेका प्रयत्न करता हुआ भी प्रतिदिन कोई-न-कोई शरीर-परिश्रमात्मक और उत्पादक कार्य करता ही रहता था। **'माह अन्यकृतेव भोजम्'**—'मै दूसरोके परिश्रमोसे भोग कदापि प्राप्त न करू।'—यही उसका जीवन-सूत्र था। वह लोक-सेवा-परायण था।

इसलिए उसके योग क्षेमकी चिंता लोग किया करते थे। लेकिन वह अपने मनमें सदा यही चिंतन किया करता था कि 'लोगोंसे मैं जितना पाता हूं, क्या उसे शतगुणित करके उन्हें लौटाता हूं? और उसमें भी क्या नवीन उत्पादनका कोई अंश होता है?'

इसी चिंतनके फलस्वरूप ही मानो एक दिन उसे अचानक गुणाकारकी कल्पना स्फुरित हुई। गणितशास्त्रको लोक-व्यवहार सुलभ बनानेकी दृष्टिसे वह फुरसतके समय उसमें आविष्कार करता रहता था। उसके समयमें षड्विधियोंमेंसे लोग सिर्फ जोडना और घटाना ही जानते थे। जिस दिन गृत्समदने गुणन-विधिका आविष्कार किया, उस दिन उसके आनंदका पारावार ही नहीं रहा। उसने दोसे लेकर नौ तकके नौ पहाडे बनाए और फिर तो वह बासों उछलने लगा। पहाडे रटनेवाले लडकोंको कहीं इस बातका पता लग जाय तो वे गृत्समदको बिना पत्थर मारे नहीं रहेंगे। लेकिन गृत्समदने आनंदके आवेशमें आकर इंद्रदेवका आवाहन पहाडोंसे ही करना शुरू किया—"हे इंद्र! तू दो घोडोंके, और आठ घोडोंके और दस घोडोंके रथमें बैठकर आ। जल्दी-से-जल्दी आ। इसके लिए तेरी मर्जी हो, तो दो के पहाडेके बदले दसके पहाडेसे काम ले। दस घोडोंके, बीस घोडोंके और तीस घोडोंके और चालीस घोडोंके . . . और सौ घोडोंके रथमें बैठकर आ।"

गृत्समद चौमुखा आविष्कारक था। पौराणिकोंने उसके इस महान आविष्कारका लेखा किया है कि चंद्रमाका गर्भकी वृद्धिपर विशेष परिणाम होता है। वैदिक मंत्रोंमें भी इसकी ध्वनि पाई जाती है। चंद्रमामें मातृवृत्ति रम गई है और कलावान् तो वह है ही, इसलिए सूर्यकी ज्ञानमय प्रखर किरणोंको पचाकर और उन्हें भावनामय सौम्य रूप देकर माताके हृदयमें रहनेवाले कोमल गर्भतक उस जीवनामृतको पहुंचानेका प्रेमपूर्ण और कुशल कार्य चंद्र कर सकता है और वह उसे निरंतर करता रहता है—यह गृत्समदका आविष्कार है। आधुनिक विज्ञानने अबतक इस विषयपर विशेष प्रकाश नहीं डाला है। परावृत्त किरण विज्ञान, प्राण-विज्ञान और मनोविज्ञान,

इन तीनोका यहा मिलाप होनेके कारण प्रश्न कुछ पेचीदा और सूक्ष्म है, इसमे शक नही। लेकिन गृत्समदका सिद्धात साधारण अविज्ञ मनको भी भाने लायक तो है। बालकका सौम्य रूप यदि 'सोमत्व' हो, तो क्या आश्चर्य है? जब हम सूर्यवशी रामको भी 'रामचद्र' कहते है, तब चन्द्रकी उपमा सूचित करते है न? कवियोने चन्द्रामृत पीनेवाले एक चकोरपक्षीकी कल्पना कर ली है। वह चकोरपक्षी अगर माताके उदरमे रहनेवाला गर्भ साबित हो, तो भी कवि तो हरगिज नाराज नही होगे। अपने-अपने अल्प प्रकाशसे टिमटिमानेवाले तारे भी अपनी जगह छोडकर चद्रसे मिलने कभी नही जायगे। परन्तु चद्र विनम्र होकर प्रत्येक नक्षत्रसे भेट करने उसके घर जाता है। इतना बडा प्रेम-मूर्ति अगर गर्भस्थ बालककी चिंता नही करेगा तो और कौन करेगा? चन्द्रकी कलाओकी पूर्णता पूर्णिमाको ही होती है। पूर्णिमाको उद्देश्य करके गृत्समद कहता है, 'हे पूर्णिमे, गर्भके टाके तू खूब मजबूत सुईसे लगा और शतगुणित प्रदान करनेवाला पराक्रमशील, प्रशसनीय सेवक उत्पन्न कर—'दहातु वीर शतदायं उक्थ्यम्'।

ग्रामसेवा-वृत्तसे • सर्वोदय, सितबर, १९४१

: ८ :

ग्रामलक्ष्मीकी उपासना

हमारा यह देश बहुत बडा है। इसमे सात लाख देहात है। हमारे देशमे शहर बहुत थोडे है। अगर औसत निकाला जाय, तो दसमसे एक आदमी शहरमे रहता है और नौ देहातम रहते है। पैतीस करोड लोगोमेसे, ज्यादा-से-ज्यादा, चार करोड शहरोमे रहते है। इकतीस करोड देहातमे रहते है। लेकिन इन इकतीस करोडका ध्यान शहरोकी तरफ लगा रहता है। पहले ऐसा नही था। देहात मुहताज होकर शहरोका मुह नही ताकते थे। लेकिन आज सारी स्थिति बदल गई है।

आज किसानके दो ईश्वर होगये है। आजतक एक ही ईश्वर था।

किसान आकाशकी तरफ देखता था। पानी बरसानेवाले ईश्वरकी तरफ देखता था। लेकिन आज चीजोंके भाव ठहरानेवाले देवताकी तरफ देखना पड़ता है। इसीको आस्मानी-सुल्तानी कहते हैं। आस्मान भी रक्षा करे और सुलतान भी हिफाजत करे। परमात्मा खूब फसल दे और शहर भरपूर भाव दे। इस तरह इन देवताओंको—एक आकाशका और दूसरा अमरिकाका—किसानको पूजना पड़ता है। लेकिन ऐसे दो-दो भगवान काम नहीं आयगे। गांधी कहते हैं ऊपरवाले ईश्वरको बनाये रक्खो और इस दूसरे देवताको छोड़ो। एक ईश्वर बस है।

अब इस दूसरे देवताकी, यानि शहरिये भगवानकी, भक्तिसे छुटकारा पानेका उपाय मैं तुम लोगोंको बतलाता हूं। हमारे गांवोंकी सारी लक्ष्मी यहांसे उठकर शहरोंमें चली जाती है। अपने पीहरसे चल बसती है। इस ग्रामलक्ष्मीके पैर गांवमें नहीं ठहरते। वह शहरकी तरफ दौड़ती है। पहाड़पर पानी भरपूर बरसता है, लेकिन वह वहां कब ठहरता है, वह चारों तरफ भाग निकलता है। पहाड़ बेचारा कोरा-का-कोरा, नंग धड़ंग, रूखा-सूखा, खड़ा-का-खड़ा रह जाता है। देहातकी लक्ष्मी इसी तरह चारों दिशाओंमें भाग खड़ी होती है। शहरोंकी तरफ बेतहाशा दौड़ती है। अगर हम उसे रोक सकें तो हमारे गांव सुखी होंगे।

यह देहाती लक्ष्मी कौन-कौन-से रास्तोंसे भागती है, सो देखो। उन रास्तोंको बंद कर दो, तब वह रुकी रहेगी। उसके भागनेका पहला रास्ता बाजार है, दूसरा शादी-ब्याह, तीसरा साहूकार, चौथा सरकार और पांचवां व्यसन। इन पांचों रास्तोंको बंद करना शुरू करें।

सबसे पहले ब्याह-शादीकी बात लीजिए। तुम लोग ब्याह-शादीमें कोई कम पैसा खर्च नहीं करते। उसके लिए कर्ज भी करते हो। लड़की बड़ी हो जाती है, अपने ससुरालमें जाकर गिरस्ती करने लगती है। लेकिन शादीके ऋणसे उसके मां-बाप मुक्त नहीं होते। यह रास्ता कैसे मूंदा जाय, सो बताता हूं। तुम कहोगे, 'सब में कतरव्योंत करो। भाज न दो, समारोहकी क्या जरूरत है ?'—वगैरा-वगैरा। यह ठीक नहीं। समारोह खूब करो।

अपना अपमान समझे। लडके जितने अपने मां-बापके हैं, उतने ही समाजके भी हैं। मां-बापके मर जानेपर क्या वे घूरपर फेंक दिये जाते हैं। गांव उन्हें सम्हालता है, मदद करता है। शादी भी करेगा। आप इस रास्तेसे जाकर देखिए। प्रयोग कीजिए। साहूकारका ऋण कम होता है या नहीं, देखिए। आपका कर्ज घटेगा। झगडे कम होंगे। सहयोग और आत्मीयता बढ़ेगी।

दूसरा रास्ता बाजारका है। तुम देहाती लोग कपास बोते हो। लेकिन सारा-का-सारा बेच देते हो। फिर बुवाई के वक्त बिनौले शहरसे मोल लाते हो; कपास यहां पैदा करते हो। उसे बाहर बेचकर बाहरसे कपडा खरीद लाते हो। गन्ना यहां पैदा करते हो। उसे बेचकर शक्कर बाहरसे लाते हो। गांवमें मूंगफली, तिल्ली और अलसी होती है। लेकिन तेल शहरकी तेल-मिलसे लाते हो। अब इतना ही बाकी रह गया है कि यहांसे अनाज भेजकर रोटियां बबईसे मगाओ। तुम्हें तो बैल भी बाहरसे लाने पडते हैं। इस तरह सारी चीजें बाहरसे लाओगे तो कैसे पार पाओगे?

बाजारमें क्यों जाना पडता है? जिन चीजोंकी जरूरत होती है, उन्हें भरसक गांवमें ही बनानेका निश्चय करो। स्वराज्य माने स्वदेशका राज्य, अपने गांवका राज्य। घर जानेपर तुम लोग सोचो कि अपने गांवमें क्या-क्या बना सकते हो। देखो, तुम्हें कौन-कौन-सी चीजें चाहिए। तुम्हारी खेतीके लिए बढ़िया बैल चाहिए। उन्हें मोल कहांतक लोगे? तुम्हें बढ़िया बैल यहीं गांवमें पैदा करने चाहिए। गायोंका अच्छी तरह पालन करो। एक-दो बढ़िया सांड उनमें रखो। बाकीके सबको बधिया करो। इससे गायोंकी नस्ल सुधरेगी। अच्छे बैल मिलेंगे। बैलोंके लिए बागडोर, नथनी वगैरा चाहिए। गांवमें सन, पटुआ वगैरासे यहीं बना लो। तुम्हें कपडेकी जरूरत है, उसे भी यहीं बनाना चाहिए। गांवमें बुनकर न हो तो दो लडकोंको सिखा लाओ। हरएकको अपने घरमें कातना चाहिए। उतना समय जरूर मिल जायगा। मूंगफली गांवमें होती है। यहीं घानी शुरू करो, तो यहीं ताजा तेल मिलेगा। गन्ना गांवमें होता है। उसका गुड बनाओ। शक्करकी बिलकुल जरूरत नहीं है। गुड गरम होता है, लेकिन पानीमें मिलानेसे ठंडा

हो जाता है। गुड़में स्वास्थ्यके लिए पोषक द्रव्य हैं। गुड़ बनाओ। खोई जलानेके काम आयगी। गावके चमारसे ही जूते बनवाओ। इस तरह गावमें ही सारी चीजे बननी चाहिए। पुराने जमानेमें हमारे गाँव ऐसे स्वावलबी थे। उन्हें सच्चा स्वराज्य प्राप्त था।

गावका ही अनाज, गावका ही कपडा, गावका ही गुड, गावका ही तेल गावके ही जूते, गावके ही डोर, गावके ही बैल, गावका ही घरका पिसा आटा—इस रवैयेको अपनाओ। फिर देखो तुम्हारे गाव कैसे लहलहाते हैं? तुम कहोगे यह महगा पड़ेगा। यह केवल कल्पना है। मैं एक उदाहरणसे समझाता हू। मान लो, तुम्हारे गावमें एक रगरेज है, एक बुनकर है, एक तेली है, एक चमार है। आज चमार क्या करता है। वह कहता है मैं तेलीसे तेल नही लूगा, वह महगा पड़ता है। तेली क्या कहता है? 'गावके चमारका बनाया हुआ जूता महगा है। मैं शहरमें जूता खरीदूगा।' बुनकर कहता है—'मैं गावका सूत नही लूगा। पुतलीघरका अच्छा होता है।' किसान कहता है—'मैं बुनकरका कपड़ा नही लूगा। मिलका लूगा। वह सस्ता होता है'। इस तरह आज हमने एक-दूसरेको मारनेका धधा शुरू किया है। एक-दूसरेका निवाह लेना धर्म है। उसे छोड़कर हम एक-दूसरेको मटियामेट कर रहे हैं।

लेकिन जरा मजा देखिये। तेली चार आने ज्यादा देकर चमारसे महगा जूता खरीदता है। उसके जेबसे आज चार आने गये। आगे चलकर वह चमार तेलीसे चार आने ज्यादा देकर महगा तेल खरीदता है। याने उसके चार आने लौट आते हैं। अर्थात वह महगा नही पड़ता। जहा पारस्परिक व्यवहार होता है वहा 'महगा' जैसा कोई शब्द ही नही है। गये हुए पैसे दूसरे रास्तेसे लौट आते हैं। मैं उसकी महगी चीज खरीदता हू, वह मेरी महगी चीज खरीदता है। हिसाब बराबर। इसमें क्या बिगड़ता है? जुलाहेने खादी बनाई और तेलीने वह खरीद ली। तेलीके लिए खादी महगी है, जुलाहेके लिए तेल महगा है। बात एक ही है। तेलमें जो पैसे गये वे खादीमें वापस मिले और खादीमें गये सो तेलमें मिल गये। 'दस हाथ देना

उस हाथ लेना' इस तरहका भाईचारेका, सहयोगका व्यवहार पहले होता था। लेकिन वह आज लोप हो गया है।

देहातमे प्रेम होता है, भाईचारा होता है। देहातके लोग अगर एक-दूसरेकी जरूरतोका खयाल नही करेंगे तो वह देहात ही नही है। वह तो शहरके जैसा हो जायगा। शहरमे कोई किसीको नही पूछता। सभी अपने-अपने मतलबके लिए वहा इकट्ठे होते है, जैसे गोबरका ढेर देखकर सैकडो कीडे जमा होते हैं। उस सडनेवाले गोबरमे सैकडो कीडे कुलबुलाते है। ये कीडे वहा क्यो इकट्ठे हुए? किसी कीडेसे पूछो, 'यहा क्यो आया? तेरे कोई भाई-बहन यहा है।' वह कीडा कहेगा, 'मै गोबर खानेके लिए यहा आया हू और गोबर खानेमे चूर हू। मुझे ज्यादा बोलनेकी फुरसत नही है।' कलाकद, गुड आदिपर मक्खिया बैठती है, सो क्या प्रेमके कारण? उसी तरह शहरोमें मक्खियोके समान जो आदमी भिनभिनाते रहते है, चीटियोकी नाई जिनका ताता लगा रहता है, वह क्या प्रेमके लिए? शहरमें स्वार्थ और लोभ है। गाव प्रेमसे बनता है। गावमे आग लग जाय, तो सब लोग अपना-अपना काम छोडकर दौड आयगे। घरमे कोई बैठा ही थोडे रहेगा? लेकिन बम्बईमें क्या दशा होगी? सभी कहेंगे 'पानीका बंबा जायगा, मुझे अपना काम है।' इसलिए एक कविने कहा है—"गावोको ईश्वर बनाता है और शहरोको मनुष्य।"

हमारे बाप-दादा गावोंमें रहते थे। आज तो हरकोई शहरमें जाता है। वहा क्या धरा है? पीले पत्थर है और धूल है। यथार्थ लक्ष्मी देहातमे है। पेडोंमे फल लगते हैं। खतोमे गेहू होता है, गन्ना होता है। यही सच्ची लक्ष्मी है। यह सच्ची लक्ष्मी बेचकर सफेद या पीले पत्थर मत लो। तुम शहर जाकर वहासे सस्ती चीजे लाते हो। लेकिन सभी ऐसा करने लगें, तो देहात वीरान दिखाई देंगे। अगर देहातोको सुखी देखना है, तो शहरके बाजारको छोडो। गावकी चीजे खरीदो। जो चीज गावमे बन ही न सकती हो वह अलबत्ता बाहरसे लाओ। बाहरसे लानेमे भी, अगर वह दूसरे गावमें होती हो, तो वहासे लाओ। मान लो यहा चूड़िया नही होती, तो सोनगीरसे

लाओ। यहा अच्छे लोटे नही बनते, तो सोनगीरसे लाओ। यहा रगरेज न हो, तो मालपुरसे रगाकर मगाओ। मालपुरका रगरेज तुम्हारे यहासे गुड लेकर जायगा, तुम उसके यहासे कपडे रगवाओ। तुम्हारे गावमे जो चीजे न बनती हो, उनके लिए दूसरे गाव खोजो। शहरमे कोई चीज खरीदने जाओ तो पहले यह सवाल पूछो कि क्या यह चीज देहातमें बनी है?—हाथकी बनी हुई है? पहले उन चीजोको पसद करो। जहातक हो सके, यन्त्रोसे बना हुआ शहरका माल निषिद्ध मानो।

तुम्हारी ग्राम-पचायतोको यह काम अपने जिम्मे लेने चाहिए। गावके झगडे-टटे करनेका काम तो पचायतोका ही है। लेकिन गावसे कौन-कौन सी चीजें बाहर जाती हैं, कौन-कौन सी बाहरसे आती हैं, इसका ध्यान भी पचायतको रखना चाहिए। नाका बनाकर फेहरिस्त बनानी चाहिए। बादमे, वे चीजे बाहरसे क्यो आती है, इसकी जाच-पडताल करके उन्हे गावमें ही बनवानेकी कोशिश करनी चाहिए। बुनकर नही है? दूसरे गावको दो लडके सीखनेके लिए भज देगे। हरएकको यह सकल्प कर लेना चाहिए कि गावकी ही चीज खरीदूगा। जो चीज मेरे गावमे न बनती हो, उसे वही बनवानेकी कोशिश करूगा। गावके नेताओको इसकी तरफ ध्यान देना चाहिए। 'कैसे होगा? क्या होगा।'—न कहो। उठो; काम शुरू कर दो; चट-से सब हो जायगा। फिर तुम ही चीजोके दाम ठहराओगे। तेली तेल किस भाव वेंचे, चमार जूता कितनेमे बना दे, बुनकरको बुनाई क्या हो?—सब-कुछ तुम तय करोगे। जब सभी एक दूसरेकी चीजे खरीदने लगेंगे तो सब सस्ता-ही-सस्ता होगा। 'सस्ता' और 'महगा' ये शब्द ही नही रहेंगे।

बतलाओ, तुम्हारे यहा क्या-क्या नही हो सकता? एक नमक नही हो सकता। ठीक, नमक लाओ बाजारसे। दो, मिट्टीका तेल। दरअसल तो मिट्टीके तेलकी जरूरत नही होनी चाहिए। परतु उसके बिना काम ही न चलता हो तो खरीदो। तीसरी चीज, मसाले। मिर्च तो यहा होती ही है। दरअसल तो मिर्च भी बद कर देनी चाहिए। मिर्चकी शरीरको जरूरत नही है। दियासलाई खरीदनी पडेगी। कुछ औजार खरीदने पडेंगे।

दूसरा कोई चारा नही है। ये चीजे खरीदो। मिट्टीका तेल धीरे-धीरे कम करो। उसके बदले अंडीका तेल काममे लाओ।

परतु इसके सिवा सारी चीज गावमे ही बनाओ। खादी गावमे बननी चाहिए। खादीके कपडेके लिए सूतके बटन भी यही बन सकते है। उन दूसरे बटनोकी क्या जरूरत है ? अगर छातीपर वे बटन न हो तो क्या प्राण छटपटाएगे ? ऐसी बात नही है। तो फिर उन्हे फक दो। इस कठीकी क्या जरूरत है ? उसके बिना चल नही सकता ? ऐसी अवश्यक चीज गावम लाओगे तो ये कठिया पैरोकी जजीरकी तरह जकडेगी या फासीकी रस्सीकी तरह गला घोट देगी। बाहरसे ऐसी कठिया लाकर अपने शरीरको मत सजाओ। भगवान् श्रीकृष्ण कैसे सजता था ? वह क्या बाहरसे कठिया लाता था ? वृदावनमे जो मोरोके पख गिर जाते थे, उन्हीसे वह अपना शरीर सजाता था। पख उखाडकर नही लाता था। वह मोरके पखसे सजता था। सो क्या वह सिडी हो गया था ? क्या पागल होगया था ? 'मेरे गावके मोर है, उनके पखोसे मै अपने शरीरको सजाऊ तो कोई हर्ज नही है। इसमे उन मोरोकी भी पूजा है'—ऐसी भावनासे वह मोर-मुकुट लगाता था। और गलेमे क्या पहनता था ? वनमाला। मेरी यमुनाके तीरके फूल—वे सबको मिलते है। गरीबोको मिलते है, अमीरोको मिलते है। वह स्वदेशी वनमाला-देहातकी वनमाला-गलेमे पहनता था। और बजाता क्या था ? मुरली। देहातके बासकी बासुरी—वह अलगोजा। यही उसका वाद्य था।

हमारे एक मित्र जर्मनी गये थे। वह वहाका एक प्रसग सुनाते थे। "हमसब विद्यार्थी इकट्ठे हुए थे। फ्रासीसी, जर्मन, अग्रेज, जापानी, रूसी, सब एक साथ बैठे थे। सबने अपने-अपने देशके राष्ट्रीय वाद्य बजाकर दिखाये। फ्रासीसियोने वायोलिन बजाया, अग्रेजोने अपना वाद्य बजाया। मुझसे कहा गया, 'तुम हिंदुस्तानी वाद्य सुनाओ।' मै चुपचाप बैठा रहा। वे मुझसे पूछने लगे, 'तुम्हारा भारतीय वाद्य कौन-सा है ?' मै उन्हे बता नही सका।"

मैंने तुरत अपने उस मित्रसे कहा, "अजी, हमारा राष्ट्रीय वाद्य बासुरी है। लाखो गावोमे वह पाई जाती है। सीधी-सादी और मीठी। कृष्ण-भगवानने उसे पुनीत किया है। एक बासकी नली ले ली, उसमें छेद बना लिये, बस वाद्य तैयार होगया।"

ऐसा वाद्य श्रीकृष्ण बजाता था। वह गोकुलका स्वदेशी देहाती वाद्य था। अच्छा, श्रीकृष्ण खाता क्या था? बाहरकी चीनी लाकर खाता था? वह अपने गोकुलकी मक्खन, मलाई खाता था। दूसरोको भी वही खाना सिखाता था। ग्वालिने गोकुलकी यह लक्ष्मी मथुराको ले जाती थी। परतु गावकी इस अन्नपूर्णाको कन्हैया बाहर नही जाने देता था। वह उसे लूटकर सबको बाट देता था। सारे गोकुलके बालक उसने हृष्ट-पुष्ट किये। जिन्होने गोकुलपर चढाई की, उनके दात उसने अपने मित्रोकी मददसे खट्टे किये। गोकुलमें रहकर भी वह क्या करता था? गाये चराता था। उसने दावा-नल निगल लिया, याने क्या किया? देहातोको जलानेवाले लडाई-झगडोका खातमा किया। सब लडकोको इकट्ठा किया। प्रेम बढाया। इस तरह यह श्रीकृष्ण गोपालकृष्ण है। वह तुम्हारे गावका आदर्श है। गोपालकृष्णने गावका वैभव बढाया, गावोकी सेवा की, गावोपर प्रेम किया, गावोके पशु-पक्षी, गावकी नदी, गावका गोवधन पर्वत—इनसबपर उसने प्रेम किया। गाव ही उसका देवता रहा। आगे चलकर वह द्वारिकाधीश बने। लेकिन फिर भी गोकुलमे आते थे, फिर गाय चराते थे, गोबरमे हाथ डालते थे, गोशाला बुहारते थे, वनमाला पहनते थे, बसी बजाते थे, लडकोके साथ, गोपबालोके साथ, खेलते थ। 'व्रजकिशोर' उनका प्यारा नाम था। 'गोपाल' उनका प्यारा नाम था। उन्होने गोकुलमें असीम आनद और सुख पैदा किया।

गोकुलका सुख असीम था। ऐसे गोकुलके अन्नके चार कणोके लिए देवता तरसते थे। प्रभमस्त गोपालबाल जब भोजन करके दही और 'गोपाल'-कलेवा खाकर यमुनाके जलमें हाथ धोने जाते थे, तब देवता मछली बनकर वे जूठ अन्नकण खाते थे। उनके स्वगमे वह प्रेम था क्या? उन देवताओको

पैसेकी कमी नही थी। लेकिन उनके पास प्रेम नही था। हमारे शहर आपके स्वर्ग हैं न? अरे भाई, वहा प्रेम नही है। वहा भोग है, पैसे हैं, परन्तु आनद नही है। अपने गावोको गोकुलके समान बनाओ। तब वे नगरके नगरसेठ तुम्हारे गांवकी नमक रोटीके लिए लालायित होकर दौडते आयेंगे। हमे देहातोको हराभरा गोकुल बनाना है—स्वाश्रयी, स्वावलबी, आरोग्य-सपन्न, उद्योगशील, प्रेमल। ईसका कोल्हू चल रहा है, चरखा चल रहा है, धुनिया धुन रहा है, तेलका कोल्हू चू-चर्र बोल रहा है, कुएपर मोट चल रही है, चमार जूता बना रहा है, गोपाल गाये चरा रहा है और बशी बजा रहा है—ऐसा गाव बनने दो। अपनी गलतीसे हमने गावोको मरघट बनाया। आइए अब फिर उसको गोकुल बनाए।

कागज एग्डोलका खरीदो। दतमजन राखका बनाओ। ब्रश दतौनके बनाओ। विदेशी कागजकी भडिया और पताकाए हमें नही चाहिए। अपने गावके पेडोंके पल्लव—ग्राम-पल्लव—लो। उनके तोरण और बदनवार बनाओ। गावके पेडोका अपमान क्यो करते हो? बाहरसे चीजे लाकर बदनवार लगाओगे तो गावके दरख्त रूठेगे। वे समारोहमे हाथ बटाना चाहते हैं। उनके कोपल लाओ। हमारे धार्मिक मगल उत्सवोके लिए क्या कागजके तोरण विहित हैं। आमके शुभ पल्लव चाहिए और घडा चाहिए। कलश चाहिए। सो क्या टिनपॉटका होगा? वह पवित्र कलश मिट्टीका ही चाहिए। तुम्हारे गावके कुम्हारका बनाया हुआ चाहिए। देखो हमारे पूर्वजोने गावके चीजोकी कैसी महिमा बढाई है। उस दृष्टिको अपनाओ। सारा नूर पलट जायगा। इधर-उधर दूसरी ही दुनिया दिखाई देने लगेगी। समृद्धि और आनद दिखाई देने लगेंगे।

हमने ब्याह-शादीकी बातका विचार किया। बाजारके सवालका विचार किया। अब, पहले व्यसनोकी बात लेता हू। अपने वशकी बातें पहले लेले। बादमे सरकार और साहूकारकी बात सोच लेंगे।

कोई दिन भर फू-फू बीडी फूकते रहते हैं। कहते हैं, '*बीडिया तो घरकी ही हैं। वे बाहरसे नहीं आती।*' अरे भाई, जहर अगर घरका हो तो क्या

खा लोगे? घरका जहर खाकर पूरी सोलह आने स्वदेशी मृत्युको स्वीकार करोगे? जहर चाहे घरका हो या बाहरका, त्याज्य ही है। उसी तरह सभी व्यसन बुरे है। उन सबको छोडना चाहिए। वे प्राणघातक हैं। शराबके बारेमे कहोगे, तो पहले महाराष्ट्रमे शराब नही थी। महाराष्ट्रका पहला गवर्नर एलफिस्टन साहब था। उसने महाराष्ट्रका इतिहास लिखा है। उसमे वह कहता है—"पेशवोंके राजमे शराबसे आमदनी नही थी। लेकिन आज तो गाव-गावमे पियक्कड हैं, सरकार उलटे उन्हे सुभीता कर देती है। लेकिन सरकार सुविधा कर देती है, इसलिए क्या हम शराब पीयें? हिंदुस्तानमे दो मुख्य धर्म है—हिंदू धर्म और इस्लाम। इन दोनो धर्मोंमे शराब पीना महान पाप माना गया है। इस्लाममे शराब हराम हैं। हिंदू-धर्ममें शराबकी गिनती पच महापातकोमे होती है। शराब पीकर आखिर हम क्या साधते है? प्राणोका, कुटुम्बका, धनका और इन सबसे प्रिय धर्मका—सभी चीजोका नाश होता है।

बीडी और शराबके बाद तीसरा व्यसन है बात-बातमें तकरार करना। कृष्णने झगडोके दावानल निगल लिये। तकरार मत करो, और अगर झगडा हो ही जाय तो गावके चार भले आदमी बैठकर उसका तस्फिया करो। अदालतकी शरण न लो। अदालते तुम्हारे गावोमे ही चाहिए। जिस प्रकार और चीजे गावकी ही हो, उसी प्रकार न्याय भी गांवका ही हो। तुम्हारे खेतोमे सबकुछ पैदा होता है। लेकिन न्याय तुम्हारे गावमे न पैदा होता हो तो कैसे काम चलेगा? गावका धान्य, गावका वस्त्र और गाव-का ही न्याय हो। बाहरकी कचहरी अदालते किस कामकी? चीजोंके लिए जिस तरह हम परावलबी न होगे, उसी तरह न्यायके लिए भी नहीं होगे। प्रेमसे रहो। दूसरेको थोडा-बहुत अधिक मिल जाय, तो भी वह गांवमें ही रहेगा, लेकिन दूर चला जानेपर, न हम मिलेगा, न तुम्हे मिलेगा, सारा भाडमें जायगा। गावमे ही पचोमें परमेश्वर है। उसकी शरण लो।

भोजन वगैरा दीगर बातोकी ऊहापोह यहा नही करता। जीमा

निर्मल और विचारमय बनाओ। हरएक काम विवेक-विचारसे करो।

चौथी बात साहूकारकी है। तुम ही अपने घर कपास लोढकर बीजके लायक निमौले सभालकर रख लोगे, घरमें ही कपडा बना लोगे, मूगफली अलसी घरमें रखकर गावके कोल्हूसे तेल निकलवा लोगे, अदालत-इजलासमें जाना बद कर दोगे, गाव ही में सारे झगडे तय कर लोगे और मेरे बतलाये ढगसे ब्याह-शादिया करोगे तो साहूकारकी जरूरत बहुत कम पडेगी। लेकिन तिसपर भी सभी लोग साहूकारके पाशसे छुटकारा नही पायेंगे। कर्जदार फिर भी रहेंगे, लेकिन उनकी तादाद कम हो जायगी।

तुम्हारी कर्जदारीका सवाल स्वराज्यके बिना पूरी तरह हल नही होगा। स्वराज्यमें सबके हिसाब जाचे जायगे। जिस साहूकारको मूलधनके बराबर ब्याज मिल चुका होगा, उसका कर्ज अदा हो चुका, ऐसा घोषित किया जायगा। जिस साहूकारका मूलधन भी न मिला होगा, सूदके रूपमे भी न मिला हो, उससे समझौता करेंगे। इसी तरहके उपायसे वह सवाल हल करना होगा। तटस्थ पच मुकर्रर करके तहकीकातके बाद जो उचित होगा, किया जायगा। तबतक आजके बतलाए उपायोंसे काम लेना चाहिए और धीरे-धीरे साहूकारसे दूर रहनेकी कोशिश करनी चाहिए। परन्तु कर्ज चुकानेके फेरमे बाल-बच्चोकी उपेक्षा न करो। बच्चोको दूध घी दो। भरपूर भोजन दो। लडके सारे समाजके है। मैं अपने साहूकारसे कहूगा, "मै अपने बच्चोको थोडा दूध दू ? उन्हे दूधकी जरूरत है।" बच्चे जितने मेरे है, उतने ही साहूकारके भी है। वे सारे देशके है। लडकोको देनेमे तुम साहूकारको ही देते हो। इसलिए पहले भरपेट खाओ, बालबच्चोको खिलाओ। घरकी जरूरते पूरी होनेपर कुछ बकाया रहे, तो जाकर दे दो। कर्ज तो देना ही है। खा-पीकर देना है। भोग-विलासके बाद नही। 'कुछ बचा तो ला दूगा—साहूकारसे कह दो।

इस तरह चार बात बतलाई। गावकी लक्ष्मीके बाहर जानेके चार दरवाजे बताये और उन्हे बद करनेके उपायोकी दिशा भी बताई। अब

पाचवी बात सरकार है। यह सरकार कैसे बद की जाय? तुम अपनी चीजे बनाने लगो, अपने गावमे बनाने लगो, तो सरकार अपने-आप सीधी हो जायगी। सरकार यहा क्यो रहती है? विलायतका माल आसानीसे तुम बेवकूफोके हाथ बिक सकता है, इसलिए। कल बुद्धिमान बनकर अगर अपने गाव स्वावलबी बनाओगे, तो सरकार अपने-आप नरम हो जायगी। जिस चीजकी जरूरत हो उसे गाव में ही बनाओ। जो इस गावम न बन सके उसे दूसरे गावसे लाओ। शहरके कारखानोका बहिष्कार करो। विदेशी चीजोकी तो बात ही कौन पूछता है? विदेशी और स्वदेशी कारखानोको तुम अपने गावसे जो खाद्य पहुचाते हो, उसे बद करो। आपसमे एकता करो। लडना-झगडना छोड दो। अगर लडो भी तो गावमे ही फैसला कर लो। कचहरी अदालतका मुह न देखनेका सकल्प करो। गावकी ही चीजे, गावका ही न्याय। अगर ऐसा करोगे तो एक पथ दो काज होगे। दरिद्रताका कष्ट दूर होगा और सरकार अतर्धान हो जायगी। तुम इस तरह स्वावलबी, निर्व्यसनी, उद्यमी और हिल-मिलकर रहनेवाले बनो, तब सरकार तुम्हारे हक दिये बिना रह ही नही सकती। तुम्हारी इतनी ताकत बढनेपर भी अगर सरकार तुम्हारे हक न देगी, तो फिर सत्याग्रह तो है ही। उस हालतमे जो सत्याग्रह होगा, वह ऐसा पचास-साठ हजारका टुटपूजिया सत्याग्रह न होगा। उसमे तो पचास-साठ लाख लोग शरीक होगे।

तुम लगानके रूपम दस हजार रुपया देते हो। लेकिन कपडोके लिए पच्चीस हजार देते हो। अब, मान लो कि यह सरकार यहासे जल्दी नही टलती। उसका लगान कम नही होता। स्वराज्य मिलनेपर कम करेंगे। लेकिन वह पराक्रम जब होगा तब होगा। फिर भी अगर कपडा गावमे ही बनानेका सकल्प कर ले, तो क्या होगा? हरएकको तीन सेर रूईकी जरूरत होगी। हर कुटुबमे अगर पाच आदमी हो, तो पद्रह सेर रूई हुई। बोनेके लिए जितने बिनौलोकी जरूरत हो, उतनी बढिया कपास खेतसे बीनकर घरपर ही रखो। बढिया बिनौले मिलेंगे। जो रूई होगी उसमेंसे

अपने परिवारके कपड़ेके लिए आवश्यकतानुसार रख लो और बाकीकी बेच दो। फी आदमी पक्की तीन सेर रूईके दाम सवा रुपया होंगे। बत्तीससौ आदमियोंको चार-पांच हजारकी रूई रखनी होगी। कपड़ा पच्चीस हजारका होगा। उसमेंसे पांच हजार घटा दीजिए, तो बीस हजार गांवमें रहेंगे। सरकार लगानके दस हजार ले जायगी। लेकिन तुम बीस हजार बचाओगे। इसलिए गांधीजी कहते हैं कि खादी ही स्वराज्य है। अकेले खादी-की बदौलत बीस हजार रुपये गांवमें रह गए। कल स्वराज्य मिल जाय तो क्या होगा? लगान आधा, याने दस हजारका पांच हजार, हो जायगा। याने तुम्हारे पांच हजार रुपये बचेंगे। लेकिन खादी बरतनेसे बीस हजार बचेंगे। इसलिए वास्तविक स्वराज्य किस वस्तुमें है यह जानो।

पहले दूसरे कई राज्य हुए तो भी देहातका यह वास्तविक स्वराज्य कभी नष्ट नहीं हुआ था। इसीलिए हमें रोटियोंके लाले नहीं पड़े। परंतु इस राज्यमें यह खादीका स्वराज्य, देहाती उद्योग-धंधोंका स्वराज्य, नष्ट होगया है। इसीलिए देहात वीरान और डरावने दिखाई देने लगे। इंग-लैण्डका मुख्य आधार कर या किसान नहीं है, बल्कि करोड़ों रुपयेका व्यापार है। लगानके रूपमें उसे दस हजार ही मिलेंगे। लेकिन तुम्हें कपड़ा बेचकर वह बीस हजार ले जायगा। तंबाकू, चाकलेट वगैरह सैकड़ों ऐसी ही चीजें हैं। इसलिए वास्तविक स्वराज्यको पहचानो। हम सरकारको अपने पराक्रमसे कब निकाल सकेंगे, सो देखा जायगा। परंतु तबतक मेरे बतलाये उपायोंसे अपने गांव स्वावलंबी, उद्यमी, प्रेममय बनाओ। इसीमें सब कुछ है।[1]

'महाराष्ट्र-धर्म'से : सर्वोदय, दिसंबर, १९४१

---

१. इसारा (खानदेश) में दिया गया एक भाषण।

: ९ :

आत्माकी भाप

मैं पहले-पहल मद्रास आया हूं। मुझे इस वक्त यहां आनेका खयाल भी नहीं था। आप लोग जानते हैं कि मैं जेल-यात्री हूं। तीसरी बार मैं जेल हो आया हूं और सरकारके हिसाबसे मैं पक्का बंदी बन गया हूं। फिर भी ये क्रिस्मसके दिन हैं और क्रिसमसके दिनोंमें सत्याग्रह स्थगित रखनेकी हमारी नीति है। लड़नेवाले सबके-सब यूरोपियन राष्ट्र ईसाई हैं। जापान अभी लड़ाईमें उतरा है। उसे छोड़कर बाकीके सब राष्ट्र ईसाई होनेपर भी क्रिसमसके दिनोंमें लड़ाई बंद नहीं रखते। अहिंसा धर्मको माननेवाले इसका खयालकर कम-से-कम क्रिसमसके दिनोंमें सत्याग्रह स्थगित करते हैं। फिलहाल वर्किंग कमेटी विचार कर रही है, इस बीच मुझे आपके सामने आनेका मौका मिल गया है, अन्यथा मैं शांतिसे नागपुर-जेलमें होता।

प्यारे भाइयो, आपको देखकर मुझे अत्यंत आनंद हुआ है, खासकर विद्यार्थियोंके सामने होनेपर मेरा हृदय समुद्रकी तरह उमड़ता है। इसका कारण यह है कि मैं अभीतक विद्यार्थी रहा हूं, आगे भी एसा ही बना रहनेकी उम्मीद है।

आपसे एक बातके लिए मुझे क्षमा मांगनी चाहिए। पदवी-दान समारंभके अवसरपर पहले लिखकर लाने और अवसरपर उसे दुहरा देनेका एक रिवाज सा होगया है। मैं ऐसा नहीं कर सका। मैं निर्गुण भक्तिसे सगुण भक्तिकी ओर कुछ विशेष ध्यान रखता हूं। उसकी ओर मेरा विशेष आकर्षण है। मैंने सत्यनारायणजीसे कहा कि विद्यार्थियोंके चेहरे देखने अर्थात् सगुण और साकार दर्शनके बाद ही मुझे कुछ बोलना सूझेगा, पहले नहीं। इसलिए वह रिवाज तोड़कर बोल रहा हूं। जिस काममें हम पड़े हैं वह महान् कार्य है। उसकी महत्ता क्या है, उस विषयमें हमें क्या करना है, इसकी कुछ रूप-रेखा मैं आप लोगोंके सामने रखनेवाला हूं। मैं दक्षिण

आजके यूरोपके युद्ध जैसे अनेक युद्धोंका प्रयोग यहां हो चुका है और हिंदुस्तानके लोगोंने उससे सीखा भी है। मैं उम्मीद करता हूं, यूरोपवाले भी इस युद्धके बाद देखेंगे कि यूरोपको एक राष्ट्र मानना अच्छा है। हमारी पुरानी एकताका साधन क्या था? हमारी संस्कृत भाषा। उस समय हमारी भाषा संस्कृत थी। अब संस्कृतके अनेक अंग बन गए और अलग-अलग भाषाएं बन गईं। अलग-अलग सूबोंमें अलग-अलग भाषाका प्रयोग होने लगा। इतना होते हुए भी जो लोग राष्ट्रीयताका खयाल करते थे वह संस्कृतमें बोलते और लिखते थे। आप देखेंगे कि केरलमें पैदा हुए शंकराचार्यजीने दक्षिणसे हिमालयतक अपने अद्वैतका प्रचार संस्कृत द्वारा किया, जब कि मालाबारकी भाषा दूसरी थी। कारण, वह उस वक्त भी राष्ट्रीयताका खयाल रखते थे। सवाल उठता है कि अपने अद्वैतका प्रचार करनेके लिए उन्हें हिंदुस्तानभरमें घूमनेकी क्या जरूरत थी। अद्वैतकी दृष्टिसे ही देखा जाय तो उनका अद्वैत जहां उनका जन्म हुआ था वहींपर पूर्णतया प्रकट हो सकता था। उनको घूमनेकी जरूरत क्या पड़ी? एक और बात यह है कि वह हिन्दुस्तानके बाहर नहीं गये। इस तरह आप समझेंगे कि उन्होंने एक राष्ट्रीयताका खयाल करके अपने अद्वैतका प्रचार सिंधुसे लेकर परावर्ततक किया। लेकिन उनमें भी एक मर्यादा थी। उन्होंने आम लोगोंकी भाषा छोड़कर सिर्फ संस्कृतमें ग्रंथ लिखे। उनके बादके संतोंको लाचार होकर आम लोगोंकी भाषामें लिखना पड़ा। और संस्कृतको छोड़ना पड़ा। अलग-अलग भाषामें अलग-अलग ग्रन्थ लिखे जाने लगे। अलग अलग भाषा हो जानेके कारण प्रांतीयताका भाव पैदा होने लगा। इसका नतीजा हुआ कि अंग्रेजोंने लश्करके दो विभाग किये —दक्षिणी हिस्सा और उत्तरी हिस्सा। उन्होंने देखा कि उत्तरवाले दक्षिणकी भाषा नहीं समझते और दक्षिणवाले उत्तरकी भाषा नहीं समझते। अगर दक्षिणमें बलवा हुआ तो उत्तरी सेना यहांपर काम देगी। यह आपको कोई काल्पनिक बात नहीं बता रहा हूं। १८५७ के बलवेको मैं भारतीय स्वातंत्र्यका संग्राम मानता हूं। उसको दबानेके लिए मद्राससे सेना भेजी गई

थी। यद्यपि भारत हजारो सालसे एकत्र रहा फिर भी वादको भाषाका सबध टूट गया और अग्रेजोने इसका फायदा उठाया। गाधीजीने देखा कि अगर हम एक राष्ट्र बनाना चाहते है और अपने प्राचीनतम राष्ट्रको (जो हिमालयसे सिंधुतक फैला है) ताकतवर बनाना चाहते है तो एक राष्ट्रभाषाकी सख्त जरूरत है। अब सस्कृत राष्ट्रभाषा नही हो सकती। इसलिए अभी हिंदुस्तानमे जो प्रचलित भाषा है उसका अभ्यास सबको करना होगा। इसलिए गाधीजीने हिंदी भाषाको सबके सामने रखा कि सब उसका अभ्यास करें। अब वस्तु-स्थिति यह है कि जब हिंदुस्तानमे काग्रेसका जन्म हुआ तब शुरू-शुरूमे आपसके व्यवहारके लिए अग्रेजी काममे लाई गई। इस तरह हमारे पढे-लिखे आदमी अग्रेजी भाषाका उपकार मानते थे और शुरू-शुरूमे अग्रेजीसे काम चलाते थे। लेकिन किसीको यह न सूझा कि सबके लिए अग्रेजी सीखना मुश्किल है। वह हिंदुस्तानकी राष्ट्रभाषा नही हो सकती। यह बात सिर्फ गाधीजीको सूझी।

जैसे हिंदीमे तुलसी-रामायण लिखी गई है, वैसे ही तामिलमे या बगलामे क्या सौ बरसके अदर ऐसा कोई उत्तम ग्रथ लिखा गया है जो गाव-गावमे फैला हो? प्राचीन जमानेमे ऐसा कोई साधन नही था जैसा हमारे यहा अब है। जैसे प्रिंटिंग प्रेस। प्रिंटिंग प्रेस-जैसे महान प्रचारकके होते हुए भी ऐसा क्यो नही हुआ? मै तामिल नही जानता। लेकिन मेरे भाइयोने बताया है कि ऐसा कोई ग्रथ नही जिसका प्रचार देहाततक हुआ हो। बहुत-से प्रकाशक मुझसे मिल चुके है। और मै उनसे पूछ आया हू कि आप प्रकाशक है या अप्रकाशक? पुराने जमानेमे जब कोई पुस्तक लिखता था तो उसको लेकर घूम-घूमकर उसका प्रचार भी करता था। मगर आज हम मान बैठे है कि प्रिंटिंग प्रेससे हमारा काम बन गया। तुलसी-रामायणने जनताकी सच्ची सेवा की है। नागपुरमे मुझे जब तुलसी-रामायण कहनेका मौका मिला तो एक बातपर मेरा ध्यान गया। आजकल छोटे बच्चोंको (जो प्रारभिक शिक्षा पाते है) अक्षर सिखानेके लिए ऐसा पाठ लिखा जाता है जिसमे सयुक्ताक्षर नहीं होते। नागरी और बगलामे सयुक्ताक्षरका प्रचार है।

इसलिए यहां जो बिना संयुक्ताक्षरके लिखा जाता है, यह कुछ कृत्रिम-सा बन जाता है। लेकिन तुलसी-रामायण में ५० सैकड़े शब्द ऐसे मिलेंगे जिनमें एक भी संयुक्ताक्षर नहीं है। यह तुलसीदासकी विशेषता है। उत्तर भारतमें श, ष, स का उच्चारण एक ही तरह किया जाता है। लिखेंगे अलग-अलग पर, उच्चारण करेंगे एक ही ढंगसे। तुलसीदास संस्कृतके प्रकांड विद्वान् थे, परंतु वह लोगोंको उठानेके लिए स्वयं झुके, जैसे माता झुककर अपने बच्चेको उठा लेती है। पर आजकलके हमारे प्रकाशक क्या करते हैं?

हम लोग गुलाम बन गये और गुलामीको प्यार भी करने लगे। अब अभिमान भी करते हैं। आप देखेंगे कि हमारी भाषा और देहाती भाषा में अंतर पड़ रहा है। हमारे ग्रंथ आम जनता तक नहीं पहुँच सकते। संतोंने देखा कि हमको देहाती भाषामें बोलना और लिखना चाहिए। गांधीजीने देखा कि जबतक अंग्रेजी भाषामें सोचते रहेंगे, तबतक हम गुलाम ही रहेंगे। मैं मानता हूं कि अंग्रेजीसे हमारा कुछ फायदा हो सकता है। लेकिन अंग्रेजी भाषा और हमारी भाषामें बड़ा फर्क है। हम लोग कहते हैं 'आत्म-रक्षा'। आत्माके मानी शरीर नहीं है। पर अंग्रेजीमें आत्मरक्षा है 'सेल्फ डिफेंस'—हरेक भाषामें उसका अपना अपना स्वतंत्र भाव रहा है। जबतक हम अंग्रेजी द्वारा ही सोचते रहेंगे, तबतक हममें स्वतन्त्रभाव पैदा नहीं होगा, यह गांधीजीने देखा। लोग समझते हैं कि अंग्रेजीसे ही हमें ज्ञान मिलता है। अगर किसी देशके बारेमें जानकारी प्राप्त करनी हो तो अंग्रेजी पुस्तक पढ़ना पर्याप्त समझते हैं। *अंग्रेजी-चश्मे द्वारा ही सभी बातोंको देखते हैं।* और खुद अंध बनते हैं। अबतक हमने प्रत्यक्ष परिचय नहीं पाया है। अंग्रेजी किताबों द्वारा ही ज्ञान-संपादन करते आये हैं। अंग्रेजी भाषाके कारण हम पुरुषार्थ-हीन होगये हैं। यहां ऐसा मैंने सुना है कि दो श्रेणी पढ़नेके बाद बच्चोंको अंग्रेजी पढ़ाई जाती है। वर्धाकी शिक्षा-योजनाके अनुसार हमने सात बरसकी पढ़ाईमें अंग्रेजीको बिल्कुल स्थान नहीं दिया है। क्योंकि हम मातृभाषाको पहला स्थान देना चाहते हैं और उसी माध्यम द्वारा सभी विषय पढ़ाना चाहते हैं। *अंग्रेजी भाषा द्वारा जब हम कोई बात समझते हैं तो वह अस्पष्ट होती*

है। मैने देखा है कि एक अनपढ किसानका दिमाग साफ रहता है, पर एक एम० ए० का दिमाग साफ नही होता। इसका कारण यह है कि एम० ए० जितना विषय सीखता है सब-का-सब पराई भाषाके द्वारा सीखता है। बच्चा पहले मातृभाषामे सीखता है। यह सब गाधीजीने देखा और यह सोचकर कि राष्ट्रभाषा बननेसे कम-से-कम दस करोड लोग तो अपनी भाषाको अच्छी तरह सीख पायेगे, हिंदीको राष्ट्रभाषाका रूप दिया। २३ सालोमे, मैने सुना है कि, दक्षिणमे करीब १२ लाख लोग हिंदी सीख चुके है।

आजकल हिंदी, हिंदुस्तानी और उर्दूका झगडा है। मुझसे जब कोई पूछता है कि आप हिंदीको चाहते है, हिंदुस्तानीको या उर्दूको ? तो मै उनसे पूछता हू कि आप 'माता' को चाहते है या 'मा' को ? मुझे हिंदुस्तानी और उर्दूमे फर्क नही मालूम होता। दाढी बनानेमे और उसकी हजामत करनेमे जितना फर्क है। उतना ही हिंदी और उर्दूमे है—बढी दाढी उर्दू है, सफाचट हिंदी। क्योकि हम देखते है कि दाढी १५ मिनटमे बढती है। अग्रेजीमे मिल्टन और वर्डस्वर्थकी भाषामें जितना फर्क है उतना ही फर्क हिंदी और उर्दूमे है। दो-चार उर्दू शब्दों या सस्कृत शब्दोसे भाषा कभी नही बदलती। मै मद्रासमें अब जो भाषा बोल रहा हू उसमे सस्कृत शब्दोका प्रयोग कर रहा हू। अगर मै पजाब गया तो उर्दू शब्दोका, जो मै जानता हू इस्तेमाल करूगा। अतएव आपसे मेरी प्रार्थना है कि आप हिंदी, हिंदुस्तानी और उर्दूमें कुछ भी फर्क न करें। उनमे फर्क नहीं है। हिंदी और उर्दूमे जो सतुलन लाया गया है वह है हिंदुस्तानी। आपको मालूम है, गाधीजी 'सतुलित खुराक' के हिमायती है और उन्होने इसको हिंदुस्तानी नाम दिया है। आप इन झगडोमें मत पडिये। जिस झगडेमे कोई अर्थ नही उस झगडेमें पडनेमे फायदा ही क्या ?

और एक बात मुझे कहनी है। आप जिस कार्यमें लगे है वह युद्ध-विरोधी कार्य है। आज जो युद्ध चल रहा है वह दुनियामे केवल द्वेष बढानेवाला है। हिंदीका प्रचार प्रेमका प्रचार है। इसलिए मै इसको युद्ध-विरोधी प्रचार

मानता हू। अगर कोई हिंदुस्तानी बच्चेसे पूछे कि तुम्हारे कितने भाई है तो उसको कहना चाहिए—"हम चालीस करोड है।" आजकल हममें प्रांतीय झगडा भी है। एक प्रांतकी सीमापर दो तरहके लोग रहते है और वे झगडते है कि अमुक स्थान हमारा है। अगर कोई मुझसे यहा पूछे कि डर्नाजग कहा है तो म कहूगा कि डर्नाजग वहापर है जहा वह खडा है। हिंदुस्तानमें अनेक भाषाओंको और अनेक धर्मोका रहना है। इसलिए अगर यहा ऐसे छोटे-मोटे झगडे हुए तो हिंदुस्तान जैसा कोई बदनसीब देश नही होगा। हम सब एक है यह भाव पैदा करनेके लिए हमारे पास कोई साधन होना चाहिए। वह साधन है राष्ट्रभाषा।

राष्ट्रभाषा प्रांतीय भाषाकी जगह नही लेगी। मातृभाषाके लिए भी प्रेमकी जरूरत है। पाश्चात्य लोगोसे हमने अभिमान शब्द सीखा है। पर इसमें देशप्रेम नही है। पेट्रियाटिज्म क्या चीज है? वह देश प्रेमका अपभ्रश है। राष्ट्रप्रेमका अपभ्रश है पेट्रियाटिज्म, इसलिए आप लोगोको मातृभाषाका अभिमान नही, प्रेम रखना चाहिए। राष्ट्रका अभिमान नही राष्ट्र प्रेम रखना चाहिए। हम राष्ट्रभाषाका प्रेम चाहते है। राष्ट्रभाषाका प्रचार युद्ध विरोधी सदेशका प्रचार है। अगर हम मानव-समाजमें प्रेम बढाना चाहते है और मानव-समाजको प्रेमकी नीवपर स्थापित करना चाहते है तो एक-दूसरेका सबध कायम रखनेके लिए रेलवे काम नही देगी, रेडियो काम नही देगा। आपके अतरात्माका प्रेम काम देगा। इसी प्रेमके प्रचारके लिए हिंदी प्रचार-सभा स्थापित है।

सबमें आत्मा एक है। आत्माकी भाषा सर्वत्र समान होती है। जैसे दुनियाभरका कौवा एक ही भाषा बोलता है वैसे ही दुनियामें मानव भाषा एक है। यह हृदयके अतरतमकी भाषा है। मानव मात्रकी एक भाषा है। जो आत्मभाव उपनिषदमें है, वही ईसप्स फबल्समें है। लडकोको ईसप्स फबल्स पढनेमें बडा आनद आता है क्योकि वे आत्माको पहचानते है। आत्माकी भाषाके प्रचारमें राष्ट्रभाषाका प्रचार पहला कदम है। आत्माकी भाषा जब समझने लगे तब सबकी आत्माको समझेगे। स्त्री-पुरुषकी आत्मा

एक है, हिंदू-मुसलमानकी आत्मा एक है। उत्तर और दक्षिणकी आत्मा एक है। इसको पहचाननेके लिए ही यह राष्ट्रभाषाका प्रचार है। मैंने अपने हृदयकी बातें आपके सामने रखी इससे ज्यादा और कुछ कहना नहीं है।[1]

हिंदी-प्रचार-समाचार, मद्राससे—जनवरी, १९४२

: १० :

सरकारकी चुनौतीका जवाब

जब-जब मैं जन-समूहके सामने बोलने खड़ा होता हूँ, तब-तब हमेशा मेरे हृदयमें अत्यंत उत्साह भरा होता है, क्योंकि आप भाई-बहनोंके दर्शनमें एक प्रकारकी पावनता अनुभव होती है। मगर मुझे कबूल करना चाहिए कि आज आपके सामने बोलनेमें मुझे हमेशाका-सा उत्साह अनुभूत नहीं होता। इसका कारण यह है कि जिस तरह हम लोगोंकी रिहाई हुई है और आपके सामने बोलनेका प्रसंग आया है, उसमें उत्साहका कारण नहीं है, उल्टे उदासीनताका कारण है। आपमेंसे बहुतोंको आनन्द होता होगा कि जेलमेंसे हमारे भाई छूटकर हमारे बीचमें आगये हैं और हमसे मिलगे। परतु मिलनेका आनंद भी, परिस्थिति विपरीत हो, तो विलीन हो जाता है। जरा-सा विचार करके देखनेसे ध्यानमें आ जायगा कि आजका मिलना आनंदका विषय नहीं है।

सरकारने सत्याग्रही कैदियोंको छोडनेका निश्चय किया है, इसकी जडमें सद्भावना प्रतीत होती, तो वह अलग चीज होती। परतु आजतक एमरी साहबके जो व्याख्यान-प्रवचन, आय दिन सुननेको मिले, उनपर ध्यान देनेसे दूसरा ही दृश्य दिखाई देता है। हम जेलमें अपने आप गये थे। हमारे सामने भाषण-स्वातंत्र्यका बड़ा भारी सवाल था। वह जबतक हल न होजाय,

---

[1] द० भा० हिंदी-प्रचार-सभा, मद्रासके ग्यारहवें पदवीदान समारंभपर दिये गए दीक्षांत-भाषणकी रिपोर्ट।

तबतक जेलसे बाहर रहना हमारे लिए जहर जैसा है। परन्तु सरकारने एक जाल बिछाया है। हमे छोडनेमे उसकी ऐसी कल्पना और इच्छा मालूम होती है कि हम लोग जो वाक्-स्वतन्त्रताके सग्राममें सत्याग्रह करके जेलमें गये, वे बाहर आनेपर ठोंप हो जायेगे और सरकारका काम अपने-आप हो जायगा। यह सरकारने बडी चतुराईका काम किया है। हमे चाहिए कि हम इस जालमें फसकर अपनी लडाई बद न करे, बल्कि और भी तीव्र बनायें। अहिंसाके उपासकके नाते ससारमें चलनेवाली हिंसाका विरोध करनेका हमारा यह मूलभूत अधिकार और कर्तव्य जबतक सिद्ध नही होता, अर्थात् जनताके सामने हमें अपने विचार अहिंसक रूपसे आजादीके साथ रखनेका अधिकार नहीं मिल जाता, तबतक हमारा यह धर्म है कि हम अपना अहिंसक युद्ध जारी रक्खे। जारी रखनेका यह अर्थ है कि हम उसे और भी जोरके साथ चलाए।

अधिक जोरके साथका क्या अर्थ है ? हिंसक और अहिंसक युद्धकी परिभाषामें अतर है। हिंसक युद्धमें साधनोकी हिंसकता बढाई जाती है और अहिंसक युद्धमे उनकी शुद्धता। हिंसक युद्धमें हम क्या करते है ? विरोधीके हथियारोके सामने जब हमारे हथियार असमर्थ साबित होते हैं तो उनसे भी ज्यादा भयानक हथियार हम खोजते है और उसका प्रयोग करते है। यह प्रक्रिया आज यूरोपकी लडाईमें प्रत्यक्ष हो रही है। चर्चिल-साहब कहते है कि अगले साल हम जर्मनीसे भी ज्यादा हिंसक और भयानक शस्त्रास्त्र तैयार करेंगे। हिटलरकी रणगाडियो (टैंको) से अधिक तादादमें और अधिक भयानक रणगाडिया बनायेंगे, तब हमारी जीत होगी। इस प्रकार एक-दूसरेकी अपेक्षा ज्यादा हिंसक शस्त्रोका निर्माण दोनों दल करते है।

अहिंसक युद्धकी रीति इससे जुदी है। अग्रेज सरकारने हमें छोडकर यह चुनौती दी है कि, "अरे, हिंदुस्तानके छूटे हुए गुलामो! अगर तुम्हें स्वतन्त्रता चाहिए, तो तुम और जोरसे लडो।" मगर इसका जवाब हम अहिंसक रीतिसे कैसे दगे ? हिंसक लडाईमें ऐसी चुनौतीका जवाब साधनोकी

हिंसकता बढाकर दिया जाता है। अहिंसक लडाई ज्यादा जोशके साथ चलानेका तरीका दूसरी तरहका है। अहिंसक युद्ध अधिक जोरसे चलानेका मतलब साधनोंकी शुद्धता बढाना और अधिक आत्म-शुद्धि करना है। हमारे इस छुटकारेकी बुराईमेसे यह भलाई निकली है। ईश्वरकी कृपासे अग्रेज-सरकारको हमे जेलमे डालनेकी प्रेरणा हुई। इसलिए हमे आत्म-परीक्षणका और जिन साधनोको हमने शुद्ध समझकर अपनाया था, उनकी शुद्धता परखनेका सुयोग मिल गया। हमारे साधनोमे जो कुछ अशुद्धि रह गई हो, उसे दूर करके अब हमें अधिक तीव्रतासे लडना चाहिए। अहिंसक प्रक्रियामे ज्यादा जोरके साथ लडनेका अर्थ यही है।

अपने साधनोमे छिपी हुई अशुद्धिका निरीक्षण करनेका अवसर हमे जेलमे मिलता है। लेकिन मुझे खेदके साथ स्वीकार करना पडता है कि जेलमे जितनी सयमशीलता और मर्यादा रखनी चाहिए थी उतनी हममेसे बहुत-से न रख सके। शायद इसीलिए परमेश्वरने हमे फिर विचार करनेका अवसर दिया है कि हम अपने औजारोको कैसे शुद्ध कर। जेलमे हमे छूट मिले या हमारे साथ ढीलका बर्ताव हो तो भी हमारे सयम, विवेक और तपश्चर्याका सरकार, अधिकारीवर्ग और दूसरे लोगोपर अनुकूल परिणाम होना चाहिए। लेकिन हमने तो यह किया कि जितने भाग प्राप्त हो सके, प्राप्त किये। ऐसी हालतमें अगर हमें लडाई जोरसे चलानी है तो ज्यादा शुद्ध कसौटीपर उतरकर सत्याग्रह करना चाहिए। तभी हमारे अगले सत्याग्रहमे अधिक बल आवेगा। अगर हम अपनी लडाई अधिक शुद्ध मनसे, अधिक शुद्ध जनसे और अधिक शुद्ध योजनासे चलायेंगे तो वह निःसशय सफल होगी।

एक सवाल यह उठाया गया है कि इस छुटकारेको सरकारकी सद्‌भावना समझकर हमे अपना कार्यक्रम क्यों न बदलना चाहिए? इसपर मुझे रविबाबूकी एक उक्ति याद आती है। उन्होने कहा है कि भारतवर्ष एक महा-मानव-सागर है। यह यूरोपके एक-एक करोडके नन्हे-नन्हे देशोके समान टूटपुजिया नही है। जिनके अलग-अलग धर्म अलग-अलग भाषाए, अलग-

अलग रहन-सहन, भिन्न-भिन्न प्रात, जुदे-जुदे रीति-रिवाज हैं, ऐसे चालीस करोड भाई-बहनोका यह देश एक महान संयुक्त कुटुबके समान है। यह हमारा सद्भाग्य है। इस विविधताके कारण इतने बडे सागरमें तरह-तरहकी लहरे उठती है, भिन्न भिन्न विचार उत्पन्न होते हैं। इसी तरहका एक खयाल यह भी है कि कार्यक्रम बदला जाय। लेकिन सवाल यह है कि क्यो बदला जाय? क्या जिस मुद्देपर हमारी लडाई शुरू हुई थी वह मान लिया गया? उसकी खातिर हम बाहरसे जेलके भीतर गये थे। अब वह माग स्वीकार किये बिना हमे फिर बाहर भेज दिया गया। तो भी अगर कार्यक्रममे परिवर्तन करना है, तो हम जेल गये ही क्यो थे? जेल जानेसे पहले तो हम आजाद थे ही। हमारी माग स्वीकार न होनेपर भी अगर हम कार्यक्रम बदल देते है तो उसका अर्थ यह है कि वह माग ही छोड देने योग्य है। मै आपसे कहना चाहता हू कि जिस मुद्देपर हमने यह अहिंसक लडाई छेडी है वह छडनेके लायक नही है। बहुत-से अधिकार ऐसे होते है कि उनका व्यवहारमे लाना सदा आवश्यक नही होता। लेकिन भाषण स्वातत्र्यके अधिकारपर अमल न करनेसे काम नही चलेगा।

भाषण-स्वातन्त्र्य तो हमारा अधिकार ही नही है, धर्म है। धर्मका तो पालन सदा करना ही पडता है। हमें आज जो भी बल मिला है, वह पिछले बीस वर्ष-की अहिंसाकी साधनासे मिला है। आप लोगोमेंसे जो मुझसे बडे या मेरी उम्र-के है, वे जानते है कि तीस वर्ष पहले हिंदुस्तानकी क्या हालत थी। उस वक्त हम 'वदेमातरम्' बोलनेसे घबडाते थे और 'स्वराज्य चाहिए' कहना भयानक था। शरीरको सुगठित कराके लिए अखाडे खोलते, तो वे भी भयानक माने जाते। बीस-पच्चीस वर्ष पहले हमारी ऐसी हीन-दीन दशा थी। होती भी क्यो न? जबकि दो सौ वर्षसे हम नि शस्त्र और परतत्र थे। हम अपनी बुद्धि, लक्ष्मी और शक्ति सबकुछ गवा चुके थे। ऐसी हालतमे हम कैसे समर्थ हुए? इतनी बलवान सरकारका विरोध—और सो भी पचास वर्षतक—लगातार करनेकी शक्ति क्योकर कायममे आई। यह किस जादूकी लकडीका प्रताप है?

परसों एक जर्मन वक्ताने बड़े गर्वसे कहा था कि अब यूरोप निःशस्त्र होगया और हमारी रणगाडियां शांति कायम रख लेंगी। यह विश्वास रिबन ट्रापको इसी आधारपर हुआ कि टैंकोंके सामने निहत्थी प्रजा क्या कर सकती है? वह जरा भी चीं-चपड़ करेगी तो दबा दी जायगी। यही श्रद्धा अंग्रेजोंकी थी कि जिस हिंदुस्तानके हथियार छीन लिये हैं, उसपर हमारा पंजा आरामसे रहेगा। वे समझते थे कि हम अपने शस्त्रास्त्रोंके जोरपर निःशस्त्र हिंदुस्तानमें बड़ी आसानीसे शांतिका प्रचार करेंगे। किंतु इस तरहकी दुर्दशामें पड़े हुए देशने इतने जबर्दस्त साम्राज्यसे टक्कर लेनेवाली कांग्रेस-जैसी महान संस्था कैसे खड़ी कर ली? यह अहिंसाका ही चमत्कार है। अहिंसाके तत्वमें संगठन करनेकी बड़ी शक्ति है।

हथियार दिया है। वह है अहिंसा। इसमें जागृति और संगठनकी कितनी विलक्षण शक्ति है। यह हमारे-जैसे नि:शस्त्र विशाल और पराधीन देश-की आजकी निर्भयतासे साबित है। चोरी-चुपकेकी हत्यामें यह शक्ति नहीं है। क्या हम इतनी बड़ी शक्तिको खो बैठें? फिर तो अंग्रेजोंकी शरण जानेके सिवा हमारे पास और कोई उपाय ही नहीं रह जायगा। हम ऐसे शस्त्रको हरगिज न छोड़ेंगे। उसे हम और भी तेजस्वी बनायेंगे। चुपचाप नहीं बैठेंगे जब इतना भयंकर हिंसा-काण्ड हो रहा है, दुनिया तबाह की जा रही है और हमारे देशको भी उसमें घसीट लिया गया है, तो हम उसके विरोधमें प्रचार किए बिना कैसे रह सकते हैं?—लोगोंसे यह कहे बिना हम कैसे रह सकते हैं कि लड़ाईमें शामिल मत होओ। इस वक्त अगर हम चुप रहेंगे तो सारा राष्ट्र खस्सी हो जायगा। हम गुलाम बने रहेंगे। यह भाषण-स्वातंत्र्य कोई मामूली अधिकार नहीं है, वह हमारा महान कर्त्तव्य है। जबतक उसे पूरा करनेका अधिकार न मिले, तबतक खाली छुटकारेके जालमें फंसकर हम अपनी लड़ाई बंद कैसे कर सकते हैं? यह हुआ शुद्ध, अर्थात् आत्यंतिक अहिंसाके पहलू विचार।

एक दूसरी भी दृष्टि है। वह यह कि 'हमारे लिए हिंसा-अहिंसाका मुद्दा प्रधान नहीं।' हम तो साम्राज्यवादी युद्धमें मदद नहीं करना चाहते। और जबतक सिर्फ अंग्रेजोंका ही सवाल था, तबतक उनका साथ न देना ठीक था। लेकिन रूसके शामिल होनेसे लड़ाईका स्वरूप ही बदल गया है। यह साम्राज्य-वादी राष्ट्र नहीं, समाजवादी मुल्क है। अब तो जो लोग इस युद्धको साम्राज्य-वादी और साम्राज्यवादको बढ़ानेवाला समझकर उसका विरोध करते थे, उन सबको चुप रहना चाहिए। लेकिन इस बारेमें एक सवाल उठता है—'अंग्रेज और रूसकी दोस्तीका क्या मतलब है?' या तो इंग्लैण्डने साम्राज्यवाद छोड़ा होगा या रूस अपने आदर्शसे कुछ नीचे उतर आया होगा। अबतक जो घटनाएं घटी हैं, उनसे साफ है कि रूस ही अपने आदर्शसे गिर रहा है। यों तो रूस अपने आदर्शसे पहले भी कुछ-कुछ गिर चुका था। इस पतनके बीज रूसी क्रांतिमें ही थे और उसकी योजनामें भी हिंसाको स्थान है।

मतलब यह कि रूसमें पहले ही से हिंसक शक्ति थी। अब वह बढ़ गई है।

हिंसक शक्तिका विरोध कांग्रेसके तत्त्वज्ञानमें है। लेकिन साम्राज्यवाद-की बिनापर जो विरोध किया जाता था वह भी कायम ही रहता है; क्योंकि इंग्लैण्डकी साम्राज्यवादी मनोवृत्तिमें कोई फर्क नहीं हुआ है। अगर हुआ होता तो उसका प्रकाश हिंदुस्तानमें जरूर पड़ता। इंग्लैण्डके रुखमें कोई फर्क नहीं पड़ा है। ऐसे साम्राज्यवादी राष्ट्रसे रूसने हाथ मिलाया है। ऐसी हालतमें यह नहीं कहा जा सकता कि युद्धका स्वरूप बदल गया है। उल्टे रूस और इंग्लैण्डके मिल जानेसे तो युद्धकी हिंसकता और भी बढ़ेगी और इंग्लैण्ड-के साम्राज्यवादकी छूत रूसको भी लगेगी। इसलिए साम्राज्यवादके विरोध-के कारण भी हमें सत्याग्रह जारी रखना चाहिए।

एक तीसरी बात यह कही जाती है कि पार्लमेंटरी कार्यक्रम क्यों न शुरू किया जाय? यह कौंसिलोंका मोह उसी हालतमें अच्छा हो सकता है, जब राष्ट्रके हाथमें सच्ची सत्ता होती है। आज वह सत्ता कहां है? आज तो पार्ल-मेंटरी कार्यक्रम फिरसे शुरू करनेका मतलब सरकारके जालमें फंसना होगा। एसेंबलीमें जाकर कमांडर-इन-चीफकी हां-में हां मिलानी होगी। ठीक वही हाल होगा जैसा कि हमारे यज्ञयागादि धार्मिक समारंभोंमें होता है। पति संकल्प करता है, पत्नी उसके हाथमें हाथ लगाकर अनुमोदन देती है। इसके माने यह है कि हिंदुस्तान खुशीसे युद्धमें धन-जनकी सहायता दे। इसका यही अर्थ हुआ कि हम सरकारके दरबारमें जायं और वहां भारतके सेनापति वेवेल-साहबके प्रवचन सुनकर हिंसक कार्यमें उनकी मदद करें। फिर तो कांग्रेसका अहिंसा द्वारा स्वराज्य लेनेका अपना उद्देश्य बदल देना होगा। लेकिन गांधीजीको और मुझ-जैसे असंख्य व्यक्तियोंको यह बात नहीं जंचती कि हिंसाके मार्गसे स्वराज्य मिलेगा। इसीलिए हमें पार्लमेंटरी प्रोग्राम (दरबारी राजनीति) नहीं जंचती।

इसलिए हम इस युद्धका यथाशक्ति विरोध करना ही चाहिए। हां, हमको अपने साधन पहलेकी अपेक्षा अधिक शुद्ध रखने होंगे। जो लोग जल

जाय, उन्हें अधिक संयमशीलता, अधिक कर्तव्यनिष्ठा और अधिक भक्ति रखनी होगी। इसका वातावरणपर शुभ परिणाम होगा। इतनी दक्षता और सावधानीसे हमें आगे बढ़ना चाहिए।

'मगर जेल जानेवालोंमें युद्धके प्रतिकारकी शक्ति कहांसे आयगी? वह तो तब आयगी, जब आप सबका सहयोग और अनुमोदन होगा, हम आप सबके प्रतिनिधि होकर जायंगे और आपमें और हममें एकसूत्रता रहेगी। तभी युद्ध-विरोधी प्रचारमें शक्ति पैदा होगी। जब हमारे विचारके पीछे आपका समर्थन होगा, तभी सत्याग्रहमें प्रचंड शक्ति आयगी। खाली हाथ उठाकर समर्थन करनेसे काम नहीं चलेगा। देखिए, यूरोपवाले अपनी आजादीके लिए कितना बलिदान कर रहे हैं। लाखों आदमी और विपुल धन कुर्बान किया जा रहा है। इसी तरह प्रत्यक्ष सहयोग देना होगा। वह सहयोग इसी तरह हो सकता है कि लाखों लोग रचनात्मक-कार्यक्रममें भाग लें। केवल हाथ उठानेके त्यागसे काम नहीं चलेगा। अगर आप लोगोंका सहयोग सजीव और व्यापक हो तो जेलमें भले मुट्ठीभर ही आदमी चले जाय, तो भी हम सफलता प्राप्त कर सकते हैं। हनूमानका उदाहरण आपको मालूम है। वह अकेला लंकामें पहुंचा था। महाबली राक्षसोंके बीच इस तरह पहुंचकर पराक्रम करनेकी शक्ति उसमें कैसे आई? यह पराक्रम उसने किसी अखाड़ेमें कसरत करके प्राप्त नहीं किया था। जब इस निर्भयताका कारण उससे पूछा गया, तो उसने कहा, 'मेरा असली बल शरीरबल नहीं है। श्रीरामचंद्रका पृष्ठ-पोषण ही मेरे इस पराक्रमका आधार है। मैं रामका दास हूं।'

कहावत है कि 'पंचोंमें परमेश्वर' होता है। जनता ही जनार्दन है। उस देवताका समर्थन हमारा सच्चा बल है। वह समर्थन रचनात्मक आचारके रूपमें ही हो सकता है।

हिंसात्मक युद्धकी तैयारीमें भी अखंड विधायक कार्यक्रमकी आवश्यकता होती है। हिंसक युद्धमें सिर्फ सेना ही नहीं लड़ती, समूचे राष्ट्रको विधायक कार्यमें जुट जाना पड़ता है। जब प्रचंड विधायक संगठन होता है, तभी

हिंसक युद्धकी तैयारी होती है। युद्धकी सामग्री बनानेके लिए बडे-बडे कारखाने खोलने और चलाने पडते हैं, रास्ते और पुल बनवाने पडते हैं, वर्दिया बनवानी पडती है, खेती और दूसरे उद्योगोद्वारा खुराक और रसदका प्रबंध करना पडता है, लडके-लडकियोंको पाठशालाए छोडकर इस काममें लग जाना पडता है, स्त्रियोंको घरका काम सम्हालकर युद्धकी विधायक तैयारीमे हाथ बटाना पडता है। जरा हिटलरसे पूछिए तो, वह कहेगा कि मुझे चौदह आने विधायक कार्य करना पडता है और सिर्फ दो आने प्रत्यक्ष लडाईका काम। सेना लडती है, परतु सारा राष्ट्र उसके पीछे काम करता है। स्त्रिया सीने-पिरोनेका, मरहम-पट्टीका और सेवा शुश्रूषाका कार्य करती है। छोटे छोटे बालक भी कारखानोंमे अपने बूतेका काम करते हैं। बूढे अपने लायक काम करते हैं। हा, इस सारे विधायक कार्यका उपयोग तो हिंसक लडाईके लिए ही होता है। लेकिन वह कार्य अपनेमें विधायक ही होता है। जब हिंसात्मक युद्धमे जनताके इतने विधायक सहयोगकी आवश्यकता है, तब अहिंसक लडाईकी तो बात ही क्या? उसमें तो सोलह आने शक्ति रचनात्मक कार्यकी ही है।

खाली युद्ध विरोध सफल कैसे हो सकता है? युद्ध-विरोधी-सत्याग्रह तो ऐसा है जैसे चिरागको दियासलाई लगाकर सुलगाते हैं। लेकिन चिराग किस शक्तिके आधारपर प्रकाश देता है? —बत्ती और तेलके आधारपर। यह न हो तो दिया प्रकाश नही दे सकता। सारी बत्तीको तेलसे पोषण मिलता है। दियासलाई तो निमित्तमात्र होती है। बत्तीका एक सिरा दियासलाईसे जला देनेपर चिराग अखड जलता रहता है। उसी तरह सिर्फ युद्धविरोधकी दियासलाईसे काम नही चलेगा। जबतक रचनात्मक-कार्यक्रमका तेल और बत्ती नहीं होगी, तबतक प्रकाश नही पडेगा, दिया नहीं जलेगा। अगर तेल और बत्ती होगी और बत्तीको तेलकी खुराक बराबर मिलती रहेगी, तो युद्ध-विरोध सफल होगा, तेजस्वी होगा। लाखो नर-नारी जब रचनात्मक कार्य द्वारा सत्याग्रह-रूपी दीपकको तेल-बत्ती पहुचाते रहेंगे, तभी उसकी ज्योति अखड और प्रचड रहेगी।

इस तेलके भंडारको भरपूर रखनेके लिए हिंदू-मुस्लिम एकता होनी चाहिए। लेकिन वह कैसे हो? हमें एक-दूसरेका विश्वास करना सीखना चाहिए। हजार-हजार और बारह-बारह सौ वर्षसे हम एकत्र रह रहे हैं। फिर भी आपसमें अविश्वास और डर है। उसे बिलकुल नष्ट कर देना चाहिए। दूसरी महान विधायक प्रवृत्ति हरिजन-सेवा है। हम अपने हरिजन भाइयोंको नजदीक लेकर उनके साथ कुटुंबियोंका-सा बर्ताव करना चाहिए। घर-घरमें चर्खा भी चलाना जरूरी है। हमारा राष्ट्र गरीब है। वह तो जब दोनों हाथोंसे काम करेगा, तभी भूख मिटेगी।

एक गृहस्थने मुझसे कहा, 'मेरे यहां तो खानेवाले छः-सात मुंह हैं।" जवाबमें मानो ईश्वरकी वाणी ही मेरे मुंहसे निकली। मैंने कहा, "घबड़ानेकी क्या बात है? सात मुंह हैं तो चौदह हाथ भी तो हैं? यह तो ईश्वरकी दया और प्रेममय योजना है कि उसने एक मुंहके पीछे दो हाथ दिये हैं; दो मुंहके पीछे एक हाथ नहीं।" हम चालीस करोड़ हैं। हमारे अस्सी करोड़ हाथोंमें कितनी शक्ति भरी है! यह हमारा दुर्भाग्य या मुसीबत नहीं है, महान सद्भाग्य और लक्ष्मी है। दोनों हाथ काममें लगाइए। सूत कातनेका काम बिल्कुल आसान है। लड़ाईकी वजहसे आज मिलका कपड़ा बहुत महंगा हो गया है। लड़ाईका कोई ठिकाना नहीं कबतक चले। मुझे तो वह लंबी जाती दीखती है। ऐसी हालतमें महंगाईके कारण कदाचित् कपड़ेके अभावमें हम सभीको जाड़ेके दिनोंमें ठिठुरना पड़े। परावलंबीका यही हाल होता है। लेकिन सूत कातनेका काम तो बच्चे, बूढ़े, कमजोर सभी कर सकते हैं।

स्वावलंबनके अलावा एक दूसरी दृष्टि भी है। देशके लिए हररोज कुछ-न-कुछ करना चाहिए। इस तरहकी प्रत्यक्ष क्रिया कौन-सी हो सकती है? हम अपने बच्चोंको कातनेके संस्कारमें भी वैसी ही भावना देनी चाहिए जैसी तुलसीकी पूजामें। छुटपनमें हमारी मां हमें तुलसीमें पानी डालनेके लिए कहा करती थी। हरएक घरमें इस तरह प्रत्यक्ष क्रियाके द्वारा बच्चोंके दिलमें धर्म प्रीतिका संस्कार पैदा किया जाता था। प्रत्यक्ष उपासना सिखाई जाती

थी। हम भी छोटे बच्चोसे प्रतिदिन देशप्रीतिके प्रतीकके रूपमे प्रत्यक्ष कार्य करावे। राष्ट्र-प्रेमकी द्योतक इस क्रियामे हमे अभिमान मालूम होना चाहिए।

इसी तरह सब तरहके व्यसन छोडने चाहिए।

याद रक्खो अगर सब लोग रचनात्मक काम करोगे, तो हमारी सत्याग्रहकी लडाईमे वह जोर पैदा होगा जिसको कोई शक्ति दबा न सकेगी। फिर आपके लिए 'पराजय'-जैसा कोई शब्द ही नही रहेगा। मुझे हमारी अतिम विजयके बारेमे तनिक भी सदेह नही है। मेरे मित्रो, सिर्फ आपका सक्रिय समर्थन चाहिए।[1]

सर्वोदय जनवरी, १९४२

: ११ :

हमारी तर्कशुद्ध भूमिका

मुझे पता नही था कि मै यहा अपने अधिकारकी कक्षमे आनेवाला काम करने आ रहा हू। परतु प्रारभमे इस कालेजके आचार्यका जो भाषण सुना उसमे मालूम हुआ कि मैं अपने अधिकारके ही कामके लिए यहा आया हू। अभी कहा गया कि यह कॉलेज अगले सत्रम नागपुर जानेवाला है और इसलिए यह अतिम प्रसग है। अक्सर अतिम अवसरोपर ही मेरी बुलाहट होती है। मालूम होता है वही मेरा अधिकार है। योग्य स्थानपर योग्य व्यक्तिकी नियुक्ति अपने-आप कैसे हो जाती है यह देखकर आश्चर्य होता है। मैने जब इस निमत्रणको स्वीकार किया तो मेरे आसपास रहनेवालोको जरा आश्चर्य ही हुआ। वे सोचने लगे, 'यह कहाका प्राणी कहा पहुचेगा?' ज्ञानदेवने लिखा है, "एक जगली जानवर पकडकर राजमहल्में—कोला-हलसे भरे राजमहलमें—लाया गया। बेचारा हैरान हुआ कि कैसे शून्य

१. रिहाईके बाद (७ दिसबर, १९४१ को) वर्धामें दिया गया भाषण।

स्थानमे मा पहुचा हू। उसे दसो दिशाए गुनगान प्रतीत होने लगी।" साथियोंने सोचा कि यहा मेरा भी यही हाल होगा। क्योंकि कॉलेज-जैसे स्थानोका वातावरण और होता है और हमारा वातावरण कुछ और तरहका। इसलिए उनकी शकाके लिए गुजाइश जरूर थी।

परन्तु मेरे दिलमें इस तरहकी कोई शका जरा भी नही थी। क्योंकि विद्यार्थी चाहे यहीका हो, चाहे कौन-सा भी हो,—वह दूसरे प्रकारका हो सकता है—लेकिन उसकी वृत्ति मेरी वृत्तिसे मेल खाती है। वह मुझे मेरी आत्मा ही प्रतीत होता है। यह अनुभव मुझे कई बार, याने जब-जब मैं विद्यार्थियोंके सामने बोला हू तब-तब हुआ है। जब मैं विद्यार्थियोसे बोलता हू तो मुझे ऐसा मालूम ही नही होता कि मैं किसी दूसरेसे बोल रहा हू। ऐसा मालूम होता है मानो मेरी आत्मा ही साकार होकर सामने खडी है, मैं अपने-आपसे ही बोल रहा हू। कारण मैं एक विद्यार्थी हू। अगर मैं विद्यार्थी न होऊ तो मैं कुछ भी नही हू। यह स्थिति है। आजतक विद्यार्थी रहा हू और, अगर इस जन्मकी ही बात करू, तो अततक भी रहूगा, ऐसी आशा करनेमे हर्ज नही। इसलिए वातावरण चाहे कितना भी भिन्न क्यो न हो, मेरे सामने जब विद्यार्थी होते है तो उनमें और मुझमें भेद नही रहता। इस विषयमें मुझे कोई सदेह नही था। इसीलिए यह निमत्रण मैंने स्वीकार किया।

लेकिन यहा आनपर मैं किस विषयपर बोलू? मैं समझता हू कि मैं कौन-से काममे लगा हू, यह जानते हुए, या यो कहिए, यह जाननेके कारण ही मुझे यहा बुलाया है। इसलिए मुझे क्या बोलना चाहिए इसके विषयमे आपकी अपेक्षा स्पष्ट ही है। मैं उस अपेक्षित विषयपर ही बोलनेवाला हू।

परन्तु मुझे एक बात कह देने दीजिए। कारण, प्रस्तावित भाषणमे मुझसे यह अपेक्षा की गई है कि मै विद्यार्थियोको कुछ उपदेश दू। लेकिन मैं उपदेश हरगिज नही दूगा। क्योकि मैंने यह सूत्र ही बना लिया है कि जो विद्यार्थियोको उपदेश देता है वह एक 'पढत-मूर्ख' (पठित-मूर्ख) है और जो ऐसे उपदेश सुनाता है वह दूसरा पढत-मूर्ख है। रामदासने पठितमूर्खके लक्षण

बतलाये हैं। आप उन्हे जानते हैं। लेकिन मैं देख रहा हू कि वे लक्षण बराबर बढते चले जा रहे हैं। अब वह पुरानी तालिका कामकी नही है।

विद्यार्थियोंको उपदेश देना मूर्खताका लक्षण है, यह कहनेमे मेरा यह अभिप्राय है कि ससारमें यदि कोई सपूर्ण स्वतत्रताका हकदार हो सकता है तो विद्यार्थी ही। क्योंकि दूसरे सब लोगोंके पीछे कोई-न-कोई दड, कठिनाई, दबाव, अकुश मर्यादा लगी ही रहती है और लगी रहना उचित भी है। लेकिन विद्यार्थी किसी बधनसे बधा हुआ नही होना चाहिए। मै अपने अनुभवसे यह कह रहा हू। मैं भी विद्यार्थी ही हू। एक विद्यार्थीकी हैसियतसे मैं कोई भी बधन स्वीकारनेको तैयार नही हू। एक नागरिकके नाते मुझपर कुछ बधन हैं। मैं अपने माता पिताका बटा हू, इसलिए भी कुछ बधन हैं। मैं अपने मित्रोका सहयोगी हू, इस कारण भी कुछ बधन प्राप्त होते हैं। उन्हे मैं स्वीकार करूगा, यह बात और है। परतु विद्यार्थीके नाते मैं किसी बधनको स्वीकार करनके लिए तैयार नही हू। विद्यार्थीसे यही अपेक्षा रक्खी जानी चाहिए कि वह तटस्थ वृत्तिसे हरएक बातको जाच-पडताल करे। उसके *सामने कोई विषय या ज्ञान इसी अपेक्षासे उपस्थित किया जाना चाहिए।* 'क्या उपयुक्त है और क्या अनुपयुक्त है' इसका निश्चय करनेका उसको हक है। इसलिए मैं उपदेश नही दूगा।

ज्ञानका कार्य दर्पणके समान है। दर्पण स्वय स्वच्छ है। वह देखनेवालेको उसका रूप दिखायेगा। लेकिन आइना उठकर किसीकी नाक साफ नही करेगा या जबरदस्ती अथवा समझा-बुझाकर नाक साफ नही करायगा। यह काम माता खुशीसे करे। आइना तो इतना बतायगा कि नाक साफ है या गदी। वह अपनी स्वच्छताके द्वारा सिर्फ दिखानेका काम करता है। अगला कार्य वह देखनेवालेको सौंप देता है। यह उसकी मर्जीकी बात है, उसका हक है। अपने स्वच्छताके गुणकी बदौलत दर्पण देखनेवालेके हकमें दखल नही देता। ज्ञानकी प्रक्रियामे उपदेशके बराबर दूसरी गलती नही है। हमारे शास्त्रकार इसी सिद्धातके अनुसार चले। इसीलिए उन्होने शासन किया। उन्होने समाजका शासन किया; इसलिए वे शास्त्रकार कहलाये।

परंतु उनका शासनका तरीका यह था कि वे वस्तुका स्वरूप स्पष्टरूपसे दिखाकर चुप हो जाते थे। शास्त्रकारोंकी इस रीतिके अनुसार तुम्हारे सामने विषय उपस्थित करके उचित-अनुचितके निर्णयका अधिकार तुम्हें देकर—वह अधिकार तुम्हें पहलेसे ही प्राप्त है—मैं भाषण करूंगा।

तुम कॉलिजके विद्यार्थी हो। इसलिए वर्तमान परिस्थितिकी तरफ तुम्हारा ध्यान अवश्य गया होगा। उस सबधमे तुम्हारा श्रवण और वाचन जाग्रत होगा। जरा देखो, आजका जमाना कैसा है? सारे मानव-समाजके पेटमे जबरदस्त दर्द हो रहा है। पृथ्वीके पेटमे भी इसी प्रकारकी वेदना होती है और भूकप-जैसे उत्पात (दर्द) होते हैं। इस भयानक वेदनामेसे कौन-कौन-से उत्पात सशारम होनेवाले है, यह कोई नही बतला सकता। इधर कई सदियोसे इतना उत्पाती समय हुआ ही नही। लोगोका यह खयाल है कि मानव समाजका इतिहास पाच-दस हजार वर्षोका पुराना है। तुम इतिहासकी जो पुस्तके पढते हो, उनमे मुश्किलसे दो-तीन हजार वर्ष पहलेका इतिहास दिया हुआ होता है। उसके पहलेके करीब हजार-दो-हजार वर्षोका हाल मोटे तौरपर अदाजसे बतलाया जाता है। परतु वस्तुत मानव-समाजका इतिहास कम-से-कम दस लाख वर्षोका है। इसलिए हमे जो इतिहास सिखाया जाता है वह तो मानवसमाजके इतने लबे इतिहासका इधरका आखिरी सिरा है। इतने बड़े अवकाशमे कई क्रातिया हुई होगी, कई उदर-पीडाए हुई होगी। परतु पिछले सारे ज्ञात इतिहासमे इतनी भयानक उदर-वेदना आजतक कभी नही हुई थी।

आजके इस युद्धमे समूची दुनिया शामिल हुई-सी है। समूची दुनिया! मैं लाक्षणिक या अलकारिक अर्थमे नही कहता। अक्षरश सारी दुनिया इस युद्धमे शरीक है। यह बात हमे खूब अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए। आजका युद्ध सारी दुनियाका 'सकुल युद्ध' है। 'टोटल वॉर' के लिए मैंने 'सकुल युद्ध' शब्दका प्रयोग किया है। मतलब, यह ऐसा युद्ध है जिसमे समूचे राष्ट्र दूसरे राष्ट्रोके दुश्मन माने जाते है—वहाके पुरुषोका वहाके पुरुषोसे वैर है, वहाकी स्त्रियोकी वहाकी स्त्रियोसे अदावत है, वहाके जानवरोकी वहाके जानवरोसे

दुश्मनी है, यहाके पेडोकी वहाके पेडोसे शत्रुता है, यहाके औजारोका वहाके औजारोंसे, यहाके जड पदार्थोका वहाके जड पदार्थोसे सीधा, तिरछा, आडा-टेढा, ऊपरसे, नीचेसे, चारो तरफसे, सारे शब्दयोगी और उभयान्वयी अव्ययोंसे व्यक्त होनेवाला, सब तरहका, वैर है। इसे और कोई विधि-निषेध लागू नही है—जिसकी वदौलत विजय होगी वह विधि और जिसके कारण पराजयकी सभावना हो वह निषेध। इसलिए मैं जो यह कह रहा हू कि समूचा जगत इस युद्धमे शामिल है, उसका आप अक्षरार्थ लीजिए।

अभी उसी दिन पढा कि इग्लैण्टने जो बात अपने इतिहासमे कभी नही की वह आज की है। वहा ऐसा कानून बना दिया गया है कि अठारह सालसे अधिक उम्रवाली जो स्त्रिया अविवाहित हो उन्हे, और विवाहित होते हुए भी जिनके सतान नही है उन्हे, युद्धमे शामिल होना चाहिए। यह भी हिसाब लगाया गया है कि इस तरहकी सोलह लाख औरते मिल सकती है। लेकिन इतनेसे भी तसल्ली नही हुई है। वे कहते है कि सोलह और अठारहके बीचकी उम्रकी स्त्रियाको युद्धमे शामिल होनेके लिए उत्तेजन दिया जायगा। हमारे यहा कहा करते है कि 'प्राप्तेतु षोडशे वर्षे पुत्र मित्रवदाचरेत्'। 'पुत्र सोलह वर्षका होते ही उससे मित्रके समान बर्ताव करना चाहिए।' उसी न्यायसे सोलह वर्षकी होते ही स्त्री युद्धके काबिल मानी गई।

उधर रूसने एक दूसरा ही ऐलान निकाला है। कहा जाता है कि इन पाच महीनोंकी लडाईके बाद, मैदानमे मारे गए, घायल हुए या कैद किये गये मिलाकर, कोई एक करोड सैनिक लडाईके लिए अयोग्य हो गये है। अठारह करोडके राष्ट्रमे, किसी भी हिसाबसे कूतिये, तो लडाईके लायक साढे चार करोडसे ज्यादा आदमी होनेकी सभावना नही है। और उनमेसे भी सभी लडाईपर नही भेजे जा सकते। प्रत्यक्ष लडाईपर जानेवाले हरएक सिपाहीके पीछे तीन दूसरे आदमियोकी जरूरत होती है। बिजली, पानी आदिका इतजाम करना, रास्ते बनवाना, औजार बनवाना आदि-आदि कई काम होते है। मतलब यह कि प्रत्यक्ष सिपाही और उसके मददगारोंका अनुपात एक और तीन माना जाय, तो सवा करोडसे ज्यादा सैनिक सेनामें

करते; बल्कि युद्ध इन्हें करता है। ये युद्धके नियामक नहीं रहते, उसके नियम्य बन जाते हैं। युद्ध उनका नियमन करता है। इन्हें युद्धके पीछे-पीछे जाना पड़ता है। कहा जाता है कि हिटलर सबसे बलवान् और योजना-कुशल है। लेकिन आज जो जागतिक युद्ध चल रहा है, वह उसकी रचनाके अनुसार नहीं कहा जा सकता। अर्थात् इस युद्धकी निष्पत्ति जो होगी सो होगी। लेकिन इतनी भयंकर क्षति और त्यागके बाद जो निष्पन्न होगा; वह प्राप्त करनेके लायक भी होगा? कोई-न-कोई नतीजा तो होगा ही।

प्रचंड भूकंपके बाद कुछ अघटित घटनाएं हो जाती हैं। इधरका समुद्र उधर हो जाता है, यहांका पर्वत उधर चला जाता है। ऐसी कुछ-न-कुछ उथल-पुथल होती है। भूकंपसे ऐसी प्राकृतिक क्रांतियां होती हैं। लेकिन वह क्रांति मनुष्यकृत या मानवनियोजित नहीं होती—चाहे उसका परिणाम मनुष्योंपर भले ही होता हो। वह स्वैर क्रांति है। आजकी लड़ाईमेंसे अगर हम अपना वांछित परिवर्तन उपस्थित कर सकें, तब तो उसे नियोजित कह सकते हैं। अन्यथा अपने-आप परिवर्तन तो यों भी होने ही वाला है। तो क्या आजकी स्थिति बदलकर उसकी जगह कुछ-न-कुछ नया स्वरूप आ जावे, इतने हीके लिए यह सारी मार-काट शुरू की गई? योजनाके अनुसार कोई निश्चित फल प्राप्त करनेके लिए ही तो इतनी भयानक लड़ाई शुरू की गई न?

लेकिन आज यह साफ-साफ दिखाई दे रहा है कि ये बड़े-बड़े तगड़े कहलानेवाले लोग—चर्चिल, हिटलर, स्टैलिन, रूजवेल्ट, सभी—युद्ध-परतंत्र हो गये हैं। इनके वशमें युद्ध नहीं है। ये उसके अधीन हैं। जिधर वह ले जायगा, उधर जानेके लिए ये बाध्य हैं। मैं इतना भयानक युद्ध भी हजम करनेके लिए तैयार हूं। लेकिन अगर उसके बाद मैं जैसा परिवर्तन चाहता हूं वैसा परिवर्तन हो सके तभी। वरना, 'जो होगा सो होगा', कहनेकी नौबत आयगी। नवीन रचनाके लिए वर्तमान युद्ध बेकार है। वह इष्ट या निश्चित दिशामें प्रगति नहीं कर रहा है। इसके बारेमें तो लार्ड हैलिफेक्सने जो जवाब दिया था वही यथार्थ है। उनसे पूछा गया, 'इस युद्धका उद्देश्य क्या है?'

बेचारेके मुहसे सच बात निकल गई। उसने कहा, 'विजय ही इस लडाईका उद्देश्य है।' पहले तो 'हम प्रजातत्रके लिए लडते हैं' इत्यादि इत्यादि दिखावेकी भाषा थी। लेकिन अब भेद खुल गया। दूसरा क्या उद्देश्य बताते बेचारे? विजय प्राप्त करनेके आनदके लिए या लडनेके मजेके लिए ही क्या कभी लडाई की जाती है? लडाईके लिए उद्देश्योकी जरूरत होती है। लेकिन यह लडाई शुरू करनेके समय उद्देश्य भले ही रहे हो, परतु अब युद्ध-चक्र शुरू हो जानेके उपरात उसे गति देनेवाला हाथ ही उसमें उलझ गया है। अब यत्र उस हाथके काबूमें नही रहा। एसी लडाईमसे इष्ट निष्पत्ति, निश्चित निष्पत्ति, नियोजित निष्पत्ति होना असभव है।

तब हम इसमे शामिल क्या हो? फलाना युद्धमे शामिल होगया, ढिमाका शामिल हो गया, इसलिए हमारा भी शामिल होना कहातक उपयुक्त है? बुद्धिमान लोगोको इसका विचार करना चाहिए। सिर्फ हिंदुस्तानके बुद्धिमानोको नही, दुनियाभरके समझदार लोगोको इसका विचार करना चाहिए। 'जिस युद्धसे हमारा अभीष्ट परिणाम नही निकल सकता, ऐसे अनाडी, स्वैर, जडमूढ, युद्धमें हम शरीक हो या न हो?' इसका उत्तर एक ही हो सकता है—'शरीक होना मुनासिब नही है।'

एक बार शरीक न होनेका निश्चय हो जानेके बाद दूसरा सवाल यह होता है कि हमारा तटस्थ प्रेक्षक बनकर रहना कहातक उचित होगा? हमारे सब भाई एसे युद्धमें फस गए है जोकि अब उनके काबूमे नही रहा है, उलटे, उनकी छातीपर सवार होगया है। 'उनकी एसी बेबसीमे क्या हमारा युद्धमे शामिल न होना काफी होगा? क्या हमारा तटस्थ साक्षी होकर रहना उचित होगा?'—इस प्रश्नका कोई भी सयाना आदमी यही उत्तर देगा कि तटस्थ रहकर देखते रहना उचित नही है।

तो अब दो बात पक्की हो गई। तुम कॉलेजके विद्यार्थी हो। आगे चलकर दुनिया तुम्हारे ही हाथमे आनेवाली है। तुम इस प्रश्नका निष्पक्षपात रीतिसे विचार करके निर्णय दो। देखो, यह बात तुम्हें कहातक जचती है। थोडी देरके लिए यह भूल जाइए कि यह युद्ध अत्यत हिंसक है। लेकिन जो

युद्ध मनुष्यके वशमें नहीं रहा, वरन् मनुष्य ही जिसके अधीन हो गया है; उस युद्धमें सम्मिलित होना उचित नहीं है—यह पहला सिद्धांत है। दूसरा सिद्धांत यह है कि जो लोग इस युद्धमें शरीक हुए हैं, उनका विनाश स्पष्ट रूपसे देखते हुए भी युद्धमें शामिल न होनेवाले शेष लोगोंको तटस्थ रहकर देखते रहना शोभा नहीं देता। ये दो सिद्धांत निश्चित हुए। अब आगे क्या हो? अगर चुप-चाप नहीं बैठना है तो क्या किया जाय? इसका विचार करनेपर हम कांग्रेसी लोग जो कुछ कर रहे हैं, उसकी उपयुक्तता आपके ध्यानमें आयगी। यह युद्ध आरंभ करके जगतमें विचारोंकी जो भूमिका आज उपस्थित की गई है, उसकी विरोधी दूसरी विचारसरणि और भूमिका-का निर्माण करना हमारा कर्त्तव्य हो जाता है। यह तीसरा सिद्धांत है।

लोग पूछते हैं, "अजी इससे क्या होगा? सभी लोग इस युद्धमें शामिल हो गये हैं। तुम्हारे मुट्ठीभर आदमियोंके प्रतिकार करते रहनेसे क्या होने जानेवाला है" मैं कहता हूं, "तो फिर क्या मेरे पहले दो सिद्धांत फिजूल गये?" इससे क्या होगा, सो बादमें देखा जायगा। पहले अपना कर्त्तव्य निश्चित कीजिए। युद्धकी भूमिकाकी विरोधी भूमिका बनाना हमारा कर्त्तव्य साबित होता है न? इसका क्या कोई नतीजा नहीं होगा? क्यों नहीं होगा? विरुद्ध भूमिकाका क्रियात्मक विचार तो उपस्थित कीजिए। मन्तव्यों और विचारोंकी शक्तिपर भरोसा क्यों नहीं है? मैं यह नहीं कहता कि विचारोंकी क्रियात्मक भूमिकाका निर्माण करनेसे वर्तमान युद्ध बंद हो जायगा। ऐसी कोई आशा मुझे नहीं है। परंतु बुद्धिमान मनुष्य अगर विरुद्ध विचारोंकी भूमिका अपने मनमें और जनतामें दृढ़ करेंगे, तो मानसिक शक्तिका एक पट (मोर्चा) बन जायगा। और जब युद्ध कुंठित होगा या बंद होगा, उसके उपरांत तुम्हारे विचारोंकी भूमिका जाग्रत होगी और उस समय मानव-समाजकी नवरचनाके कार्यके तुम्हारे हाथोंमें आनेकी संभावना होगी। उस दिनके लिए क्या आज ही से तैयारी नहीं करनी होगी? करनी ही चाहिए। लेकिन जब हम यह तैयारी करने लगते हैं, तो सरकार कहती है, "हम तुम्हें रोकेंगे।" लेकिन ऐसा मोर्चा बनाना

हमें अपना कर्तव्य प्रतीत होता है। इन लोगोंकी बदौलत युद्ध-समाप्तिके अनंतर हम संसारको निश्चित मार्गपर मोड़ सकेंगे। ये मतवाले आज युद्धमें चूर हैं। युद्ध अब उनके हाथमें नहीं रहा। निश्चित फल पानेकी कोई आशा नहीं रही। इसलिए जो समझदार लोग युद्धसे बाहर रहना चाहते हैं, उन्हें युद्ध-प्रतिकारकी भूमिका रचनी चाहिए। कारण, युद्धके बाद इन लोगोंकी शरीरकी तरह बुद्धि भी थक जायगी, बल्कि शरीरसे बुद्धि ज्यादा थकी हुई होगी। आप ऐसी भूमिका रचिए कि उन्हें सहज ही आपके रास्तेपर आना पड़े। इसलिए इसमें सख्तीका सवाल नहीं है। जिनका दिमाग साबित है, वे मार्ग-दर्शन करनेके अधिकारी हैं। नियोजित समाज-रचना करनेका कार्य उन्हींके जिम्मे आनेवाला है। इसलिए युद्ध विरोधी विचारकी सक्रिय भूमिकाका निर्माण करना उन्हींका कर्तव्य है।

लेकिन यह कर्तव्य हमें आरामसे कौन करने देगा? विद्यमान राज्य-कर्ता और व्यवस्थापक हमारा दडन और दमन अवश्य करेंगे। अगर वे ऐसा करेंगे तो वह भी एक अन्याय ही होगा, और अन्यायका प्रतिकार करना तो हमारा परम कर्तव्य है।

सारांश, युद्ध किन कारणोंसे शुरू हुआ इसका विचार करके उसके विरुद्ध कारणोंका निर्माण करना हमारा कर्तव्य है। हमारा पहला सिद्धांत यह है कि अन्यायका प्रतिकार करना ही चाहिए। दूसरा यह कि प्रतिकारकी रीति भिन्न होगी, उसका हथियार अनोखा होगा। संसारको गांधीजीकी यह देन है। अन्यायके प्रतिकारका उनका तरीका अगर संसार स्वीकार कर लेता, तो यूरोपमें आज जो दृश्य दिखाई देता है, वह न दिखाई देता। उस दिन रविन्द्रनाथने कहा न, कि अब यूरोपकी शांति भंग होनेका डर ही नहीं है। क्यों? इसलिए कि यूरोपकी सारी जनता निःशस्त्र बना दी गई और उसके बंदोबस्तके लिए जर्मनीके टैंक जहां-तहां गश्त दे रहे हैं। ये उन्मत्त लोग अंग्रेजोंसे ही यह गुरुमंत्र सीखे हैं। अंग्रेजोंने हिंदुस्तानके हथियार छीन लिये और वे सोचने लगे कि अब हम कुशलसे हैं। इनके पास हथियार नहीं हैं और हम शस्त्रास्त्रोंसे लैस हैं। अब मनमानी हुकूमत करनेमें हर्ज

नहीं है। रिवनट्रॉप भी यही कहता है। जो उसका सूत्र है वही और सबका है। दीगर फुटकर भेद भले ही हों; लेकिन सूत्र एक ही है। शांतिके लिए लोगोंको निःशस्त्र बना देना और व्यवस्थापकोंका नखशिख सुसज्जित हो जाना—यही इग्लैण्ड, रूस, जापान और अमेरिका इन सबकी युक्ति है।

कार्लमार्क्सने एक बड़ा भारी सिद्धांत पेश किया है। उसे जाननेके बाद गांधीजीके दिये हुए विचारकी महिमा आपके ध्यानमें आयगी। कार्लमार्क्सका नाम तो आप जानते ही हैं। उसकी किताबें भी आपने पढ़ी होंगी।

उसका यह सिद्धांत है कि जब कोई प्रमेय संसारमें प्रवृत्त होता है, तो उससे कुछ फायदे होते हैं और कुछ नुकसान भी होता है। एकतंत्र राज्य-पद्धति, पूंजीवाद आदि किसी भी पद्धतिको ले लीजिए। जबतक लाभकी मात्रा अधिक और हानिकी मात्रा कम होती है, तभीतक वह प्रमेय टिकता है। लेकिन जब फायदेकी बनिस्बत नुकसान ही ज्यादा होने लगता है, तो एक तीसरा तद्विरोधी प्रमेय संसारमें प्रवृत्त होता है और उस पुराने प्रमेयपर आक्रमण करता है। इस आक्रमणसे एक तीसरा ही तत्व उदय होता है, जिसमें पहलेके दोनों तत्वोंके गुण ही शेष रह जाते हैं। उदाहरणके लिए

गुण होंगे, ठीक उसी तरह जिस तरह कि हम कलमें बांधते हैं। नीबूपर मोसंबीकी कलम बांधते हैं—जिससे खट-मिट्ठा सतरा पैदा होता है; जिसमें नीबू और मोसंबी दोनोंके गुण होते हैं। लेकिन यह सामाजिक क्रिया कोई योजनापूर्वक नहीं करता। यह अपने-आप होती रहती है। एक तत्वके अंदर छिपे हुए दोष प्रकट होने लगते हैं और उसीकी कोखसे तद्विरोधी दूसरा तत्व पैदा होता है। जैसा कि बुद्धने कहा है—'तद्भवाय तमेव खादति'। 'उसमेंसे पैदा होकर उसीको खाता है।' जिस प्रकार यह तीसरा तत्व अपने आप पैदा होता है, उसी प्रकार प्रतिकारका यह नया तरीका मार्क्सके सिद्धांतानुसार इतिहासमेंसे ही पैदा हुआ है। गांधी केवल निमित्तमात्र हुआ है।

आजतक यह प्रणाली थी कि सशस्त्रोंको परास्त करके हम खुद विशेष संगठित और विशेष सुसज्जित रहे। उसमेंसे अब यह दूसरी प्रणाली उत्पन्न हुई कि सामनेवालेको पूरी तरह निःशस्त्र बनाकर हम खुद सशस्त्र रहे। अब उसीमेंसे इन शस्त्रहीन लोगोंको प्रतिकारकी यह नई युक्ति सूझी है। इस सूझका निमित्त गांधी है। वह न होता तो दूसरा कोई हुआ होता। पैंतीस-चालीस करोड़ लोग अगर हमेशाके लिए गुलाम ही रहे, तो वे मनुष्य ही नहीं होंगे। और अगर वे मनुष्य हों, तो उनके लिए स्वतंत्र होनेका रास्ता होना ही चाहिए। वह रास्ता उन्हें सूझता है, इसीमें उनकी मानवता है। इस सिद्धांतको 'वितर्कवाद' कहते हैं। सामान्य तर्कसे यह विशेष और भिन्न है, इसलिए उसे 'वितर्क' यह पारिभाषिक संज्ञा दी गई है। सबसे पहले पूर्ववर्ती तर्कका विरोधी तर्क उत्पन्न होता है, फिर उन दोनोंका समन्वय होकर उन दोनोंमेंसे तीसरा तर्क उत्पन्न होता है—यह वितर्ककी प्रक्रिया है। यह 'वैतर्किक सरणि' मैंने संक्षेपमें आपके सामने उपस्थित की है।

समूचे राष्ट्रोंके निःशस्त्रीकरणकी प्रक्रिया मध्ययुगके लोगोंकी खोपड़ीकी उपज है। जिन लोगोंने समूचे राष्ट्रको निःशस्त्र बनाया और ऊपरसे उसकी रक्षाकी जिम्मेदारीको स्वीकार किया, उन्होंने एक बड़ा ही खतरनाक प्रयोग किया है। अंग्रेजोंने हिंदुस्तानको निःशस्त्र कर दिया है। लेकिन आज इंगलैण्डके लोग जरूर महसूस कर रहे होंगे कि हमने यह कोई अक्लका

काम नहीं किया। इसीलिए अब कहने लगे हैं कि "आओ, लड़ाईमें शामिल हो, हम तुम्हें हथियार चलाना सिखाते हैं।"

लेकिन उनका यह उत्पाती प्रयोग एक दृष्टिसे बड़ा लाभकारी साबित हुआ। क्योंकि निःशस्त्र होनेके कारण ही हम प्रतिकारके इस अनोखे शस्त्रका आविष्कार कर सके। गांधीजी तो केवल उसे व्यक्त करनेवाला मुख है। गांधीके रूपमें हिंदुस्तानकी सारी प्रजा बोलती है। बीस वर्षतक उन्होंने इस नए शस्त्रकी महिमा लोगोंपर प्रकट की। तलवारकी शक्ति भी कोई स्वतंत्र शक्ति नहीं है। तलवार भी आखिर लोहा ही तो है। वह तो खदानमें पड़ा ही है। उसे कारीगरीसे उपयोगी आकार दे दिया गया, तो भी आखिर लोहा ही है। घड़ा और मिट्टी क्या अलग-अलग हैं? शस्त्र जड़ ही हैं। शस्त्रके पीछे चेतन शक्ति है। इसलिए उसमें बल आ जाता है। अगर चेतन शक्ति न हो, तो वह तलवार या बंदूक अपने-आप नहीं चलती। तलवार या बंदूककी शक्ति चलानेवालेपर, धारण करनेवालेपर, निर्भर करती है। पहले यह बात समझमें नहीं आती थी। परंतु परिस्थितिकी प्रेरणासे गांधीके ध्यानमें यह बात आगई कि शस्त्रकी शक्तिका आधार चैतन्य है।

नहीं तो हथियार होते हुए भी कैसी फजीहत होती है, इसका एक किस्सा हमारे एक मित्र सुनाया करते हैं। एक सज्जनके घरमें चोर घुस गये। चोरोंको देखते ही उसके होश-हवास उड़ गये और वह चिल्लाने लगा, "अरे मेरी बन्दूक! बन्दूक! बन्दूक!!" उससे 'बंदूक' शब्द भी नहीं कहते बना। बंदूक उसके होती भी किस कामकी। हां, अगर चोर अपनी बंदूक लाना भूल गये हों, तो उन्हें अलबत्ते उसका उपयोग हो सकता था।

भावार्थ यह कि शस्त्र-स्वतंत्र रीति से काम नहीं कर सकते। अगर हम निःशस्त्र न होते तो यह पृथक्करण हमारी समझमें न आता। परिस्थितिकी निरपेक्ष कल्पना सहसा सूझती भी नहीं। ऋषियोंको भी विचार और स्फूर्ति तथा प्रेरणा परिस्थितिमेंसे मिलती है। गांधीजीको यह जो स्फूर्ति हुई उसमें उनकी बुद्धिकी कुछ विशेषता जरूर है, परंतु उसका वास्तविक कारण भी हिंदुस्तानकी परिस्थिति ही है।

इस तरहका भला-बुरा प्रयोग हमने बीस साल तक किया और यह अनुभव हुआ कि निःशस्त्र होते हुए भी इस युक्तिकी बदौलत हम लड सकते है। लेकिन लोग पूछते है, "इसका क्या परिणाम निकला?" मैं कहता हू "अरे परिणामवादियो, जरा सब्र तो करो। तुमने दस हजार वर्षतक हिंसाके प्रयोग देख है। क्या अब भी हिंसाके प्रयोग होना बाकी है? इतने वर्षोंके बाद भी फिर नित्य शस्त्र चलाने ही पडते है न?" छुटपनमें हम रटा करते थे। 'चटनीवाला रात दिन पीसता ही रहता है'। उसी तरह यह तलवरिये रात दिन तलवार घिस-घिस घिसते आये है। इन लोगोको इतना मौका दिया। हमे तो बीस ही साल हुए। हमें भी तो प्रयोग करनेके लिए मौका दोगे? यह भी तो देखो कि हमने बीस सालमे कितनी योग्यता प्राप्त की।

नागपुर-जेलम नित्य इसकी चर्चा हुआ करती थी। वहा जमा हुए सब 'सत्याग्रही' (!) ही थे 'मिथ्यावादी' (!) कोई नही थे, लेकिन हम सोचते रहते थ कि ऐसे दिखावटी साधनोसे जो प्रयोग किया या प्रयोगका स्वाग रचा उसका भी अगर इतना असर हो सकता है, तो असली चीज प्रवृत्त होनेपर कितना प्रचड कार्य होगा?

दस हजार सालतक हिंसाके प्रयोग करते रहनेके बाद भी उसकी यह दशा है और *हमारी टूटी फूटी अहिंसाका प्रयोग केवल बीस ही सालका है,* तो भी हम इतना प्रतिकार कर सके। तो बतलाइए क्या हम आगेके लिए आशा नही कर सकते? कम-से-कम इस सभावनाकी तो गुजाइश है कि शायद हिंसा असफल साबित हो और अहिंसाके मार्गसे ही बहुत-सा कार्य हो जाय। यह सभावना भी अगर तुम्हारे दिलमें पैदा होगई, तो मै समझूगा कि मेरे व्याख्यानसे बहुत बडा काम हो गया।

अगर यह विचार यूरोपके गले उतर जाता, तो आजकी परिस्थितिमे हिटलरको चैन नही पडता। वह देशके बाद देश फतह करता चला गया। उधर रूस-जैसे प्रतापी राज्यमे उलझ गया। ऐसी हालतमे भी इग्लैण्डको जर्मनीपर धावा बोल देनेकी हिम्मत नही हुई। बहुतोको इस बातका आश्चर्य

हुआ। वे सोचने लगे कि जर्मनीपर हमला करनेके लिए इससे अच्छा मौका और कौन-सा हो सकता था? लेकिन इग्लैण्ड एक कोनेमे चोरी-चुपकेसे लीवियामे लडने लगा। साराश, इग्लैण्ड-सरीखे बलवान, सामर्थ्यशाली और सपन्न राष्ट्रको भी प्रतिकार करना इतना मुश्किल मालूम होता है। तो दूसरे राष्ट्र क्या करे? कर ही क्या सकते है? चुपचाप बैठे और टैंकके आते ही उसके सामने सिर झुका दे। और कुछ सूझता ही नही।

लेकिन गाधीजीने हमे यह नया हथियार दिया है। अगर प्रतिकारका व्रत लेना है तो इस हथियारके बलपर ही लिया जा सकता है। तलवारके बलपर अगर प्रतिकारकी शपथ ली जाय, तो जबतक तलवार हाथमे है, तभीतक आप उस शपथको निबाह सकेगे। तलवार हाथसे गिरते ही व्रत खुल जायगा, उसका पारण हो जायगा, एकादशी समाप्त होकर द्वादशी शुरू हो जायगी। अन्यायके प्रतिकारकी प्रतिज्ञाका पालन करनेके लिए अहिंसाका ही आश्रय जरूरी है। जो अहिंसक प्रतिकारका व्रत लेगा वह—पुरुष या स्त्री—जहा खडा हो वहीसे प्रतिकार शुरू कर सकता है।

इसलिए आप सारी परिस्थितिका शातिपूर्वक विचार कीजिए। कहा जाता है कि महाराष्ट्रके लोग बुद्धिवादी और तार्किक है। महाराष्ट्रपर लगाया जानेवाला यह बुद्धिवादका आरोप अगर सही होता, तो मुझे आनद हुआ होता। लेकिन मुझे दुख है कि यह आरोप वास्तविक नही है। महाराष्ट्र एक तरहकी तामसी श्रद्धासे प्रेरित हुआ है। हम समझते है कि हमारा वह पुराना मराठी बाना और नाना फडनवीसकी परपरा हमारे खूनमे है। भाई मेरे अब वह नाना फडनवीसकी पुरानी विद्या और परपरा इस बदली हुई परिस्थिति और समयमे बिल्कुल निरुपयोगी और बेकार साबित होगी। ये लोग कहते है कि नाना बडा बुद्धिमान था और इसलिए उसने बडी सिफ्तसे राज्यकी रक्षा की। लेकिन नानाकी बुद्धिमानी इस बातमे थी कि वह भाप गया था कि अग्रेजोका शासन हिंदुस्तानमे जमनेवाला है। ये लोग कहते है कि अहिंसक प्रक्रिया हमारे खूनमे नही है, हमारी विचारधारामे नही है। लेकिन ज्ञानदेव, तुकाराम आदि सतोने जिस प्रक्रियाको गौरवान्वित

लिया, वह हमारे रक्तमें नहीं है, यह माननेके लिए में तैयार नहीं हूं। लेकिन अगर ऐसा ही हो तो समझ लीजिए कि आप हमेशाके लिए पिछड़ जायगे। अब फिरसे आप कभी समाजका नेतृत्व नहीं कर सकेंगे। उस पेशवाई और नाना फडनवीसकी परपराके भरोसे बैठोगे तो बैठे ही रहोगे; उठ नहीं सकोगे।

जिस शस्त्रके आधारपर दुर्बलभी बलवान बन सकता है, उसे चलानेकी विद्या अगर तुम खुद सीखोगे, दूसरोंको सिखाओगे तो युद्धके बाद शरीर, बुद्धि और प्राणसे थके हुए लोगोंका नेतृत्व सहज ही में तुम्हें प्राप्त होगा।[1]

सर्वोदय : जनवरी, १९४२

: १२ :

तीन मुख्य वादोंकी समीक्षा

आज में जो कहना चाहता हू उसे कहनेके पहले थोड़ी-सी प्रस्तावना करनी होगी। एक मित्रकी चिट्ठी आई है। वह लिखते हैं, "कृपया हिंदीमें बोलें"। इसमेंसे 'कृपया' शब्दोको में स्वीकार करता हू। यानें 'कृपया' मराठीमें बोलनेवाला हू। नागपुर-जेलमे हमारी चर्चा और व्याख्यान सदैव हिंदीमें ही होते थे। वहा जो सत्याग्रही थे उनमेंसे अधिकाश हिंदी जानते थे। मराठी जाननेवाले थोड़े ही थे। इसलिए उनसे हिंदीमे ही बाते और चर्चा हुआ करती थी। इस प्रकार हिंदीके द्वारा हमे एक-दूसरेके विचार ज्ञात हुए और सहवासमें आनद मालूम हुआ। फलत अब मुझे व्याख्यान देने लायक हिंदीका अभ्यास हो गया है।

लेकिन यहा मराठीमें बोलनेमे मेरी तत्व-दृष्टि है। हमें अपनी राष्ट्रभाषा हिंदी अथवा हिंदुस्तानी अथवा उर्दू अवश्य सीखनी चाहिए। सभी प्रातोंके लोगोंको सीखनी ही चाहिए। लेकिन साथ-साथ यह भी जरूरी है कि जो

---

१ वासुदेव आर्ट्स कालेज (वर्धा) के स्नेह-सम्मेलनके अवसरपर (१४दिसबर, १९४१ को) दिया हुआ भाषण।

लोग दूसरे प्रांतोंमें आकर रहते हैं, वे भी उन प्रांतोकी भाषाएं समझने और बोलने लायक सीखें। अन्यथा समूचे राष्ट्रकी संधि नहीं जुडेगी। मेल दोनों तरफसे होता है। विभिन्न प्रांतीय भाषाभाषियोंको राष्ट्रभाषा सीखनी चाहिए और हरएक प्रांतमें रहनेवाले अन्य प्रांतीयोंको स्वदेशी धर्मके अनुसार दयालुतासे उस प्रांतकी भाषा अवश्य सीखनी चाहिए। यह तत्व-दृष्टि तुम्हें उपलब्ध करानेकी कृपा करके अर्थात् 'कृपया' मैं मराठीमें बोलनेवाला हू।

विद्यार्थियोंके लिए हाल हीमें मेरा एक व्याख्यान हो चुका है। मैं मान लेता हू कि आप लोगोंमेंसे अधिकतर लोगोंने वह सुना होगा। उस व्याख्यानमें मैंने एक विचार पेश किया था। वही विचार मैं सब जगह उसी भाषामें पेश किया करता हू। कारण मेरे दिलमें वह उसी भाषामें जम गया है। वह विचार यह है कि संपूर्ण स्वतंत्रतापर अगर किसीका अबाधित और निरंकुश अधिकार हो सकता है तो विद्यार्थियोंका। दूसरोंके लिए बंधन होते हैं और वे उचित भी होते हैं। परंतु विद्यार्थीको कोई बंधन नहीं होना चाहिए। इस अधिकारका अमल अगर अबतक शुरू न किया हो, तो आज शुरू करो। विद्यार्थी एक हैसियत है। उस हैसियतको लक्ष्य करके मैं बोल रहा हू, विद्यार्थी-व्यक्तिकी दृष्टिसे नहीं। एक व्यक्तिके नाते उसे अनेक बंधन होना संभव है। लेकिन विचार या सत्यका शोध करते समय संपूर्ण और केवल विद्यार्थीकी ही हैसियत होनी चाहिए। अमुक विद्या इसलिए ग्राह्य नहीं है कि उसे अमुक महात्मा, गुरु या संत सिखाता है। 'यह संतवाणी है, यह हमारे पंथकी वाणी है', इसलिए प्रमाण है, इस तरहका बोझ ज्ञानार्जनके विषयमें या विचार बनानेके विषय में उसके ऊपर नहीं होना चाहिए। विद्यार्थी-व्यक्तिपर पुत्र, मित्र, शिष्य या दूसरी हैसियतमें अनेक बंधन लागू हो सकते हैं। पर विद्यार्थीके नाते ही तुम्हारा अधिकार है। यह बहुत महत्वपूर्ण, बिल्कुल मूलभूत, अधिकार है। संपूर्ण स्वतंत्रता इस मूलभूत अधिकारकी अगर तुम अवहेलना करोगे या अवहेलना होने दोगे, तो सच्ची विद्या प्राप्त होनेकी आशा नहीं रहेगी।

आजकल जर्मनी, रूस इत्यादि गम्य राष्ट्रोंमें इतिहास, संस्कृति, व्यापार, भूगोल, इत्यादि सिखानेके बहाने विद्यार्थियोंका यह अमूल्य अधिकार छीन

लिया गया है। गणेशजीकी मूर्ति बनानेवाला आजका शौकीन मूर्तिकार यह भूल जाता है कि 'गणपति' नामका एक तत्व है और मिट्टीको मनमाना आकार दे देता है। मूर्तिकार समझते हैं कि गणपतिकी प्रतिमा बनाना हमारे हाथकी बात है। इसलिए उसे अपनी मर्जीका आकार दे देते हैं। कोई उनके हाथमें त्रिशूल और वल्लम दे देते हैं, कोई चरखा देते हैं और कोई तो उसे सिगरेटका चस्का लगा देते है। इस तरह बेचारे गणेशजीकी मिट्टी पलीद की जाती है वही हाल विद्यार्थियोंका होनेवाला है। सयाने विद्यार्थी इसके लिए तैयार नही थे, आज भी नही है। तुम्हे ऐसी दुर्दशा सहनेके लिए हरगिज तैयार नही होना चाहिए। जर्मनीमें क्या होता है? 'विद्यार्थीको कौन-सी विद्या सिखाई जाय, कौन-से ढाचेमे ढाला जाय', यह सरकार तय करती हैं। विचार और गुणोका नियत्रण तथा नियमन सरकार करती है। सरकारको जो विकार और विचार इष्ट जान पडते है, उन्हें भिन्न-भिन्न विद्यार्थियोके मगजमे ठूसनेका अमोघ साधन माने शिक्षक। सरकारके इष्ट विचारोकी दृष्टिसे शिक्षणकी योजनाए बनती है। ऐसी ज्यादतिया अगर तुम सह लोगे तो तुम्हारा, हमारा और ससारका बुरा हाल होगा। पूंजीवादी राष्ट्र इस प्रकार की योजनाए बनाया करते है। उनका पूरी तरह विरोध करना हमारा—विद्यार्थियोका—फर्ज है।

यह पहली बात है। यह वैदिक ऋषिके ध्यानमे आया। इसलिए उसने कहा। क्या कहा उसने? 'मेरे प्यारे शिष्यो, तुम बारह वर्षतक मेरे पास रहे, विद्या सीखे, लेकिन तुम मुझे अपना आदर्श न मानना। सत्यको ही प्रमाण मानो। मेरी कृतियो या शब्दोको प्रमाण मत मानो। मेरे शब्द और आचरण सत्यकी कसौटीपर परखो। जो खरे उतरें उनको स्वीकार करो। जो घटिया ठहरे उन्हे छोड दो। सत्यकी कसौटी हरएककी बुद्धिके लिए सहजगम्य है। उसे काममे लाओ।"—'यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि' उस ऋषिने कहा, 'हमारे केवल अच्छे चरित्र अपनाओ, बुरोको छोडो।' क्योकि वह यथार्थ ज्ञानदाता गुरू था। उसका बतलाया तत्व नवीन नही है। लेकिन उसका अमल नही होता। इसलिए

अतिशय दयालु गुरुके नाते ऋषिने विद्यार्थियोंको यह सदेश दिया। उसे खूब याद रखिए। अपना विचार-स्वातत्र्यका यह मूलभूत अधिकार अक्षुण्ण रखिए। उसे गवाइए नही।

मैंने कहा कि स्वतत्र-बुद्धि विद्यार्थीका पहला और मुख्य लक्षण है। स्वतत्र बुद्धि माने वह बुद्धि जिसपर कोई दबाव नही है। वही सत्याग्रही बुद्धि है। इस बुद्धिके द्वारा तुम ससारकी तरफ देखो। तुम्हे अनत चमत्कार दिखाई देंगे। बुद्धिसे उन्हे समझो। इस युगमें खोखला भेजा रखनेकी गुजाइश नही है। अगर तुम अपने सुनिश्चित और पक्के विचार नहीं रक्खोगे तो उसमें किसी दूसरेके विचार घुस जायगे। आजकी दुनिया कहती है, 'दिमाग खाली नहीं रहना चाहिए। उसमें कुछ-न-कुछ भरना ही चाहिए।' सद्विचार भरो। और अगर सद्विचार नहीं भरना है तो आलू भरो, पत्थर भरो, जो चाहे सो भरो। इस युगकी यह प्रतिज्ञा है कि तुम्हारा सिर खाली नहीं रह सकता। खुद विचार न करोगे तो वह रेडियो रेक-रेककर तुम्हारी खोपडीमे विचार ठूसता है। समाचारपत्र विचार करनेको बाध्य करते हैं। बिना विचारका दिमाग रखना सभव नहीं हैं। इसलिए सत्याग्रही बुद्धि रक्खो। सद्विचार करो। सद्विचारोको दृढ करना और सचित करना, यही एक रास्ता है। अगर तुम कहोगे कि मै विचार नही बनाऊगा, तो लोग तुम्हे बनायगे। बनो मत। दुनियाके हाथोंमें महज मिट्टी बनकर न रहो।

आजकी दुनियामें उदासीन रहना असभव है। केवल एकातमें अध्ययन करनेकी गुजाइश नहीं हैं। समाजशास्त्रके विचार और अध्ययनके बिना गति नही है। उसके बिना किसी भी विषयका अध्ययन नहीं हो सकता। इतिहास, अर्थशास्त्र और राज्यशास्त्रका अध्ययन तो ही ही नही सकता। लेकिन गणित-जैसे स्वतत्र और तटस्थ विषयका अध्ययन भी समाजशास्त्रके बिना नहीं होता। साधारण नीति, गणित, साधारण विज्ञान, भौतिकशास्त्र—किसी भी विषयका विचार समाजशास्त्र-निरपेक्ष करना सभव नही है। मानो समाजशास्त्रमेंसे ही ये सारे शास्त्र निकले हो। इसलिए नित्य जागरूक रहकर विधायक विचार करना नितात आवश्यक है।

आज संसारमें तीन बहुत बड़े विचार-प्रवाह पाये जाते हैं। पहला 'फासीवाद' और 'नाझीवाद' है—दोनों वस्तुतः एक ही हैं। एक जर्मनीमें पैदा हुआ और दूसरा इटलीमें। वह किसी-न-किसी रूपमें सारे संसारमें हैं। हमारे हिंदुस्तानमें भी हैं। दूसरा साम्यवाद है। समाजवाद इत्यादि उसके पेटमें हैं। यह वाद रूसमें प्रवृत्त हुआ और दुनिया भरमें फैला। तीसरा महात्मा गांधीका विचार है। ये तीन ही यथार्थ विचार-प्रवाह हैं। इंग्लैण्ड, अमेरिका आदिके विचारोंकी विचारकी दृष्टिसे कोई गिनती नहीं है। गिनती करनी हो तो वे 'फासी-नासी' के ही भाईबंद हैं। विजय किसीकी भी हो, विचारकी दृष्टिसे इनमें कोई दम नहीं है। इसलिए इनकी गिनती करनेकी जरूरत नहीं है। इनके विचार नष्ट होनेवाले हैं। इनकी विजय भी हो जाय तो वह उसी तरहकी होगी, जैसे कि बुझनेके पहले एक क्षणके लिए चिरागका बड़ा होना। अंतमें इनका विचार नष्ट होनेवाला है।

इन तीनों वादोंकी प्रगति हमारे सामने है। उनका तुम तटस्थभावसे खूब अध्ययन करो। इनमेंसे गांधीवादका तो उदय करीब-करीब हिंदुस्तानमें ही हुआ है। 'करीब-करीब' इसलिए कहा कि दूसरे देशोंके विचारकों ने भी इस तरहके विचार व्यक्त किये हैं। प्राचीनकालमें कुछ व्यक्तियोंने प्रयोग भी किये हैं। लेकिन इस सिद्धांतको शास्त्र बनाकर उसे सगुण रूप देकर उसके प्रत्यक्ष प्रयोग गांधीने ही और राष्ट्रीय पैमानेपर हिंदुस्तानमें ही किये हैं। इसलिए 'करीब-करीब' कहनेमें हर्ज नहीं है। गांधीके प्रयोगके लिए हिंदुस्तानमें अनुकूल परिस्थिति और वातावरण था।

दूसरे दो वाद यूरोपमें पैदा हुए—साम्यवाद और नाजीवाद। ये क्यों और कैसे पैदा हुए, इसका विचार हमें करना चाहिए।

मैंने अपने जीवनके विषयमें एक न्याय (नियम) बनाया है। वह आपके सामने रखता हूं। वह न्याय है—'इंद्राय-तक्षकाय स्वाहा'। सांपोंसे तकरार हो जानेके कारण एक ब्राह्मणने सांपोंका यज्ञ किया। उसमें बहुत-से सांपोंकी

आहुतियां दीं। लेकिन तक्षक इंद्रके आसनके नीचे जा छिपा। इधर ब्राह्मणने कहा, 'तक्षकाय स्वाहा', लेकिन तक्षकका पता नहीं। तब तो ब्राह्मणने सूक्ष्मदृष्टिसे खगोलका निरीक्षण किया। उसे पता चला कि तक्षकके इंद्राश्रित होनेके कारण आहुति व्यर्थ गई। इसलिए उसने कहा, 'इंद्राय-तक्षकाय स्वाहा'। ब्राह्मणने उद्दंडतासे दोनोंकी आहुतिका संकल्प पढा। पृथक्करणका कष्ट नहीं किया। लेकिन इंद्र तो अमर ठहरा। इसलिए उसकी आहुति होना असंभव था। ब्राह्मणने पृथक्करणकी झंझटसे बचना चाहा, इसलिए इंद्रके साथ तक्षक भी अमर होगया।

ऐसा कोई भी वाद नहीं जिसमें एक-न-एक गुण न हो। अगर हम किसी वादको सर्वथा दुष्ट या दोषयुक्त करार देकर उसके गुणोंका भी त्याग करें तो वह वाद अमर हो जाता है। यदि किसी वादके गुण-दोषोंका पृथक्करण न किया जाय तो दोषोंसे भरा हुआ वाद भी पनपता है। इसलिए हरएक वादमें जो गुण हों, उन्हें जान लेना जरूरी है। जिसमें गुण ही न हों, ऐसा वाद ही नहीं है। इसीलिए नाजीवादको सर्वथा दुष्ट करार देनेसे वह जोर पकड़ता है और पनपता है। हम उसके गुणोंको नहीं देख सकते और न साम्यवादमें ही सत्यका अन्वेषण होता है। किसी भी वादके सिर्फ दोष ही देखनेसे वह खंडित नहीं होता।

अगर हम हरएक वादका गुण अपना लें तो फिर उस वादमें स्थायी रहने लायक कुछ नहीं बचता। इस दृष्टिसे हम नाजीवादके गुणकी खोज करें। नाजीवाद एक प्रकारके पूर्व-अभिमानपर स्थित है। प्राचीन परंपरा और पूर्व-इतिहासके अभिमानपर अधिष्ठित है। "हम जर्मन लोग श्रेष्ठ हैं। हमारे इतिहासमें भव्यता है। इसलिए परमात्मा या कालात्माने एक बड़े महत्वका कार्य हमें सौंपा है। हम अपनी पुरानी संस्कृतिका रक्षण और पोषण करके ही उस कर्तव्यको पूरा कर सकेंगे। इसलिए इस जर्मन-वंशको अक्षुण्ण रखना चाहिए। हमारे अंदर श्रेष्ठ गुण हैं। इसीलिए तो यह महत्कार्य हमारे सिपुर्द किया गया है। व्यक्तिकी तरह समाज और राष्ट्रमें भी विशेष गुण पाये जाते हैं। ये हमारे विशिष्ट गुण हमारा अपनापन, हमारा निजत्व हैं। हमारी

संस्कृति शुद्ध है। हम शुद्धरक्तके, शुद्ध बीजों, शुद्ध विचारके जर्मन लोग ही यह कार्य पूरा करनेके योग्य है। शुद्ध याने पूर्व-परंपरासे प्राप्त। मेढककों मेढकोंकी परंपरासे मिले हुए गुण शुद्ध है। सांपको सांपोंकी परंपरासे मिले हुए गुण शुद्ध हैं। शेरको शेरोंकी परंपरासे मिले हुए गुण शुद्ध हैं। उसी प्रकार हमें हमारी परंपरासे मिले हुए विशिष्ट गुण ही हमारी संस्कृति हैं। इसलिए हमे जर्मनवंशका अभिमान रखकर अपनी परंपराकी रक्षा करनी चाहिए।"

नाजीवादमें दूसरे दोष होंगे, लेकिन यह एक बडा आकर्षक गुण है। हां, आकर्षक होते हुए भी वह सर्वथा ग्राह्य नहीं है। पूर्वपरंपराका सातत्य बनाये रखना, उसका धागा टूटने न देना, संस्कृतिकी परंपरा अविच्छिन्न रखनेके लिए अपने पूर्वजोंकी संस्कृतिके प्रति आदर तथा प्रेम रखना—यह उसका वास्तविक ग्राह्यांश है। वंशाभिमान रक्षण करने-जैसी वस्तु नहीं है।

इसके विपरीत साम्यवादमें दूसरे ही प्रकारका गुण है। वह देखता है कि सारी दुनियाके गरीब उत्तरोत्तर अधिक गरीब होते जाते हैं और अमीर ज्यादा अमीर। गरीबोंकी पेटकी खाई गहरी होते-होते प्रशांत महासागरके बराबर हो गई हैं और श्रीमानोंके धनकी पहाडी ऊंची होते-होते हिमालयके सदृश होगई है। यह अंतर सहा न जानेके कारण साम्यवाद पैदा हुआ। वह कहता है कि बहुमतके नामपर आज जो प्रणाली जारी है, वह यथार्थ लोकसत्ता नहीं है। सिर गिननेकी लोकसत्ता सच्ची लोकसत्ता नहीं है। क्योंकि ऐसी लोकसत्तामें गरीबोंके सिर श्रीमानोंके हाथमें रहते हैं। इसलिए गरीबोंके मतदानका कोई मूल्य नहीं। जबतक श्रीमतोंका नाश नहीं होगा, दोनोंको समान अधिकार प्राप्त नहीं हो सकते। मौजूदा मतदानपद्धति सिर्फ आकारमें लोकसत्ताके समान है। हम आकारमें नहीं, अपितु प्रकारमें भी लोकसत्ता स्थापित करना चाहते हैं। वह पक्षपातहीन लोकसत्ता होगी। आज यदि निष्पक्ष रहना हो तो गरीबोंका पक्षपात करना ही होगा। आजतक समान-अधिकारके नामपर श्रीमानोंकी प्रतिष्ठा खूब बढाई गई। समत्व, न्याय और समान-अवसरका स्वांग रचा गया। समान-अवसर माने गरीबोंकी पिसाई। गामा पहलवान और लकडी पहलवानकी कुश्ती तय कराकर दोनोंको

समान-अवसर देनेका दम भरा जाता है। गामा पहलवानकी जीत निश्चित है। पहले गरीबोंका उद्धार कीजिए, बादमें समान-अवसर आदि सिद्धांतोंकी बात कहिए। गरीबोंके उद्धारके लिए चाहे जैसे साधनका प्रयोग करना पाप नहीं है। इस प्रकार साम्यवादमें गरीबोंके प्रति पराकाष्ठाकी आस्थाका गुण है।

इस प्रकार दो गुणोंकी बदौलत ये दो वाद संसार और हिंदुस्तानमें फैल रहे हैं। हमारे महाराष्ट्रमें भी फैलना चाहते हैं। मैं महाराष्ट्रके ही विषयमें बोलता हूं। क्योंकि अगर मैं महाराष्ट्रके दोष दिखाऊं तो वह मेरा प्रांत है, इस कारण गलतफहमी नहीं होगी। महाराष्ट्रमें 'हमारा महाराष्ट्र धर्म' 'हमारी पेशवाई' (पेशवाशाही), हमारा 'मर्द मराठा सिपाही', 'हमारी संस्कृति', 'हमारे समर्थ (रामदास) और उनकी बजरंगबलीकी उपासना', आदि भावनाओंको जो प्रोत्साहन देता है, उसके प्रति तरुणोंमें आकर्षण पैदा होता है। इसी कारण महाराष्ट्रके तरुणको हिंदू महासभावालों-के विचार पसंद आते हैं। वह उन विचारोंमें प्राचीन इतिहासके अभिमानका बहुत बड़ा गुण देखता है। दासनवमी (श्रीरामदास-जयंती); हनुमान-जयंती, भीष्माष्टमी, शिवाजी-उत्सव आदिसे प्रेरणा और आवेश मिलते हैं। अतः उस पक्षमें दूसरे कितने ही दोष क्यों न हों तो भी वह तरुणोंको आकर्षक प्रतीत होता है। उसमें पूर्वपरंपराके अभिमानका गुण है।

मुसलमानोंमें यही विचार मुस्लिमलीगने फैलाया—'इस्लाम कितना वैभवशाली था, हिंदुस्तानमें किसी समय उसका साम्राज्य किस प्रकार था', इत्यादि। पूर्वपरंपराके अभिमानका गुण उसमें है।

इस प्रकार हिंदूसभा और मुस्लिमलीगका कार्य नाजी-परंपराका है। वे जब आपसमें खुलकर बोलते हैं, तब कभी-कभी यह बात मान लेते हैं। आम तौर पर नहीं बोलते। लेकिन उनकी सहानुभूतिका स्थान वह है शपथविधि, गुप्तता, आदि सारे लक्षण विद्यमान हैं। वह हरा झंडा, वह कुरानकी कसम, वह हनुमानजीकी साक्षी, वह शपथ, वह ध्वज—यह सारा देखकर एक तरहका उत्साह मालूम होने लगता है। ऐसा अनुभव होने लगता है कि ये लोग हमें गलत रास्तेमें बिल्कुल ही नहीं ले जा रहे हैं—पूर्वजोंके

परिचित मार्गमें ले जा रहे हैं। इस भावनाके आधारपर ये नाजी-सम्प्रदाय हिंदुस्तानमें बढ़े हैं।

हिंदुस्तानकी गरीबी उपनिषद्के ब्रह्मके समान है, उसकी कोई उपमा या तुलना नहीं है। ब्रह्मके समान 'वह एकमेवाद्वितीय' है। इसलिए गरीबोंके लिए श्रमिकों और श्रमिकोंके प्रति सिद्ध रखनेवाला साम्यवाद आकर्षक मालूम होता है और फैलता है।

इस तरह दो भिन्न कारणोंसे ये दो भिन्न वाद आकर्षक हो गये हैं। पूर्व-परम्पराके अभिमानकी बदौलत नाजीवाद आकर्षक हो उठा है। हिंदू और मुसलमानोंके अभिमानका स्थान दिखाकर वह हिंदुस्तानमें फैला है। दरिद्रताके कारण साम्यवाद आसानीसे गले उतरता है। मैं दोषाविष्करणके उद्देश्यसे इन वादोंकी समीक्षा नहीं करता। क्योंकि हमें केवल उनके गुण ही देखने हैं।

अब तीसरे वादकी समीक्षा करता हूं। वह गांधीने उपस्थित किया है। हम उसके रूपको भलीभांति समझ लेना चाहिए। कुछ लोग समझते हैं—यह बचारा गुजराती 'सामलूभाई' (ढीलाढाला, पिलपिला आदमी) ठहरा। इसका क्या 'वाद-आद' हो सकता है। ये बेचारे गुजराती डरपोक, गाय-जैसे सीधे, सापको भी न मारनेवाले लोग हैं। इन्होंने व्यापारके सिवा और कुछ नहीं किया है। तलवार कभी उठाई नहीं है। उस परम्पराका यह 'सामलू' है। उसका वाद उसी तरहके लोगोंको जचेगा।

लेकिन मैं तुमसे कहता हूं कि बात ऐसी नहीं है। अगर ऐसी बात होती—याने इस वादमें डरपोकपन और 'सामलूपन' होता—तो एक महाराष्ट्रीके नाते मैंने उसे कभीका फेंक दिया होता। 'सामलूपन' कड़ुआ, मीठा, खट्टा, चाहे किसी भी तरहका क्यों न हो, मैं तुमसे उसकी सिफारिश नहीं करूंगा।

परन्तु मैं कह चुका हूं कि वस्तुस्थिति वैसी नहीं है। तुम जांच-पड़ताल कर देख लो। अगर इस वादकी जांच तुम नहीं करोगे तो मैं कहूंगा कि तुम विद्यार्थी बुद्धू बन चले हो। दूसरा आरोप नहीं करूंगा। सिर्फ 'बुद्धू' कहूंगा।

हिंदुस्तान आज डेढ सौ वर्षोंसे निःशस्त्र है। न शस्त्र शक्ति है, न द्रव्य-शक्ति ही रह गई है। इस तरह यह एक केवल शक्तिहीन राष्ट्र था। इस राष्ट्रके सामने यह प्रश्न उपस्थित था कि वह कमर सीधी रखनेकी शक्ति कैसे हासिल करे। इस विषयमें विचार-मंथन शुरू हुआ। शस्त्र और द्रव्य दोनों तरहकी शक्ति गायब हो जानेके बाद भी क्या कमर सीधी रह सकती है? क्या अपनी पूर्वपरंपरापर कायम रहते हुए यह सिद्ध हो सकता है? इस तरहके विचारका मंथन शुरू हुआ। चालीस करोड लोगोंमें सीधे खड़े होनेकी शक्ति निर्माण करनी है।

किसीने समझा पाश्चात्योंका अनुकरण करना चाहिए, उनकी विद्या सीखनी चाहिए। किसीकी रायमें धर्म-सुधारसे ही हमारी उन्नति होगी। धर्म-सुधारकी शक्ति उत्पन्न करनेके लिए ब्राह्मण-समाज, प्रार्थनासमाज, आर्यसमाज, थिऑसाफी आदि संस्थाएं स्थापित हुईं। ये सारे समाज ऊपरसे धार्मिक भले ही प्रतीत होते हों, उनकी जड़में दूसरी ही बात थी। 'हमारी द्रव्यशक्ति और शस्त्रशक्ति जाती रही, अब हम बुद्धिशक्तिके बल सीधे कैसे खडे हो सकेंगे?'—यह वृत्ति उन सबके पीछे थी।

बुद्धि-शक्तिकी प्राप्तिके लिए ही शिक्षण विषयक सुधार शुरू हुए। बुद्धि-शक्ति ही एकमात्र आशा रह गई थी। इसलिए गांधीके पूर्वकालमें धर्म-सुधारके साथ शिक्षण-सुधार जोड दिया गया था। राजा राममोहन राय, स्वामी दयानंद, देवेन्द्रनाथ ठाकुर, रानडे, रविबाबू, अरविन्द प्रभृतिने बुद्धिके जोरपर आगे आनेका यत्न किया। जब शस्त्रकी ताकत न रही, द्रव्यकी ताकत न रही तो और क्या करते?

शिक्षण-विषयक सुधारमें अंग्रेजी विद्याका अनुसरण शुरू हुआ। तब दूसरा एक पक्ष सामने आया। वह कहने लगा, 'हमें अंग्रेजीकी उपासना नहीं चाहिए। प्राचीन विद्याओंको गति देकर नवीन स्वरूप दो।'' इस विचारके अनुसार गुरुकुल आदि संस्थाएं खुलीं। उनमेंसे तीसरा आंदोलन राष्ट्रीय शिक्षाका निकला। प्राचीन संस्कृत विद्या और नवीन विद्यासे लाभ उठानेका यह प्रयत्न था। ऐसा माना जाने लगा कि पुनरुज्जीवन और सुधारका शिक्षण

ही राष्ट्रीय शिक्षण है। लेकिन तीनों प्रकारोंके मूलमें विचार एक ही था। वह यह कि बुद्धिके द्वारा शक्ति निर्माण करेंगे। शक्ति-निर्माणके तीन द्वार हैं—धन बल और बुद्धि। लक्ष्मी और शक्तिके दरवाजे प्राय बंद होगये। तब अंग्रेजोंसे टक्कर लेनेके लिए तीसरा—विद्याका—ही द्वार बाकी रह गया। इस विचारसे यह आंदोलन शुरू हुआ। कई सुधारकोंने उसमें भाग लिया।

लेकिन बुद्धिमें शक्ति कैसे आवे ? बुद्धिका क्या स्वतन्त्र पोषण होता है ? क्या आचारहीन बुद्धि शक्तिशालिनी हो सकती है ? निराचार बुद्धि शक्तिशाली नहीं हो सकती। जबतक बुद्धि आचारमें परिणत करनेकी प्रक्रिया सिद्ध नहीं होती, तबतक स्वतन्त्ररूपसे बुद्धि शक्तिशाली नहीं होती। जब यह ध्यानमें आया, तब कांग्रेस स्थापित हुई। उसके पहले बुद्धिमान लोग कहने लगे कि "आओ, हम गरीबोंकी शिकायतें दूर करनेके लिए अपनी बुद्धि काममें लायें, अर्थात् उसे सक्रिय बनायें। लेकिन शिकायतें पेश करके उनका निराकरण करानेका प्रयत्न एक मर्यादा तक ही सफल होता है। पूर्ण सफल नहीं होता। अव्यक्त शिकायतें व्यक्त हो जाती हैं। लेकिन बुद्धि जबतक क्रियात्मक नहीं होती, तबतक सफल नहीं होती। इसलिए कांग्रेस शिकायतें तो पेश करती थी, लेकिन उसकी बात हवामें उड़ जाती थी। उसका प्रयत्न सफल नहीं होता था। क्या नहीं होता था ? इसलिए कि शिकायतोंके दूर होनेकी संभावना नहीं थी। सो कैसे ?—इसलिए कि सारी शिकायतोंका मूल कारण, शिकायतोंकी शिकायत, परतन्त्रता ही है।"

यह बात कांग्रेसके ध्यानमें आगई। सहज ध्यानमें आनेवाली है। मनुष्य और सब डालियां काट सकता है, लेकिन जिस शाखापर वह खड़ा हो उसे नहीं काट सकता। अंग्रेज-सरकार कई सुधार कर सकती है। लेकिन उसकी सत्ता अकेली हमारी गुलामीकी डालपर खड़ी है। उस मुख्य शाखाको वह कैसे तोड़ेगी ? तुम बुद्धिवाद करके कितना ही समझाओ, जैसे उन्होंने मुझसे कहा 'कृपया हिंदीमें बोलिए', उसी तरह तुम भी कहो, 'कृपया इतनी शाखा तोड़िये', तो वह कैसे सुन सकती है ? वह कृपा उनकी जान ले लेगी। सरकार फुटकर टहनियां तोड़ेगी, कहेगी "कहतमें मदद करेंगे, मराठी-हिंदीको

विश्वविद्यालयोंकी परीक्षाओंमें स्थान देंगे; लेकिन मुख्य शाखाको हाथ न लगाइए। 'स्वतत्रताकी जय' न बोलिए; 'अग्रेज-सरकारकी जय' बोलिए।"

बात लोगोंके ध्यानमें आगई। जिस शाखापर अग्रेजोंकी सत्ता खडी है, उसे 'काट डालिए' कहनेसे सरकार कैसे काटेगी ? यह बात ध्यानमें आनेपर सवाल यह हुआ कि अब क्या करे ? तब पता चला कि शक्तिसे ही राज्य मिलते हैं और युक्तिसे यत्न होता है। मतलब, शक्ति प्राप्त करनी चाहिए। गुप्तरूपसे कार्य करना ही युक्ति है, ऐसा समझा जाने लगा। अब, 'अधिकारियोंको मारे, षड्यत्र करके बम बनावें'—इस प्रकारके विचार शुरू हुए। अफसरोंके खून हुए। यह सब शुद्ध बुद्धिसे हुआ। जिन लोगोंने बमका प्रयोग किया उनका स्मरण भी मैं पवित्र मानता हू।

लेकिन उन्हे क्या अनुभव हुआ ? बम बनानेके लिए पैसोंकी जरूरत है। शिवाजी महाराजने भी षड्यत्र किये। उन्हे भी साधन जुटाने पडे। उसके लिए सूरत शहर लूटना पडा। मराठोंने बगालमें डाके डाले। अब ये लोग भगवद्गीताकी दुहाई देकर सद्भावनासे डाके डालने लगे। लेकिन पहलेसे ही जो पेशेवर गरीब लुटेरे थे, वे भी डाके डालने लगे। इनकी अपेक्षा वे निपुण थे। उन्होंने ज्यादा डाके डाले। लेकिन इसका लोगोंको कैसे पता चले लोग कैसे जानें कि कौन-सा डाका किसका है ? बकरा क्या जाने कि छुरी किसकी है ? उसे क्या पता कि उसकी गरदन काटनेवाली छुरी उसे यज्ञके लिए मारनेवाले ब्राह्मणदेवताकी है, या मास बेचनेवाले कसाईकी ? लोग डाकोंकी पहचान न सके। 'हमें बचाओ' इतना ही कहने लगे। इसलिए सरकारकी अच्छी बन आई। अराजक और डाकूमें फर्क न कर सकनेकी वजहसे बमोंका मार्ग बेकार हुआ।

बादमें महात्मा गाधी आए। उन्होंने कहा, "अराजकोंका पथ तो ठीक है, लेकिन पद्धति सही नही है। मुख्य शाखा ही तोडनी चाहिए। इसलिए उनका पथ तो उचित है, लेकिन वह हिंदुस्तानमें हिंसासे हो नही सकता।" ससारमें कही नही हो सकता। सगठित हिंसापर रची हुई यह प्रक्रिया जब व्यापक परिमाणमें आजमाई जाय, तभी सफल हो सकती है। आजकी

सरकारें अत्यंत संगठित और व्यापकतम हिंसाकी सरकारें हैं। उतना व्यापक हिंसा संगठन प्रजा नहीं कर सकती। इसलिए उसकी हिंसा किसी कामकी नहीं साबित होती। प्रजामें हिंसक संगठनमेंसे शक्तिका निर्माण नहीं होता। बहुत हो तो राष्ट्र-प्रेमकी प्यास बुझती है। कुछ-न-कुछ करनेकी तमन्ना शांत होती है। व्यक्तिगत संतोष मिलता है। लेकिन संगठनके लिए यह पद्धति उपयोगी नहीं है। राष्ट्रीय उत्थानकी दृष्टिसे-कार्यक्षम नहीं है।

इसलिए गांधीने कहा, "आम जनताका खुले तौरपर संगठन करनेकी मेरी पद्धति ही परिणामकारक ठहरेगी। सरकार स्व-सत्तापर नहीं टिकती। लोगोंसे मिली हुई सत्तापर टिकी हुई होती है। उसे लोगोंके आधारकी जरूरत होती है। *सरकार और लोग, इन दोनों हाथोंसे राज्यकी ताली* बजती है। आप अपना हाथ हटा लीजिए, उसका हाथ अपने-आप ढीला पड़ जायगा। लोग अपनी दी हुई सत्ता हटा लें तो सरकार नहीं टिक सकती। इस प्रकारसे संगठन द्वारा ही हम प्रतिकारकी शक्ति निर्माण कर सकेंगे।"

हिंदुस्तान इतना बड़ा चालीस करोड़का राष्ट्र कैसे बना? हमारी पूर्वपरंपराके गुणकी बदौलत इतना बड़ा राष्ट्र बना। यह हलका-पतला राष्ट्र नहीं है। हमारे परमपूज्य राष्ट्र-कवि रवींद्रनाथ ठाकुरने भारतको **'एइ भारतेर महामानवेर सागरतीरे'** कहा है। सारी दुनियासे आ-आकर लोग यहां बसे हैं। सभी तो आक्रमण करके जबरदस्ती आकर नहीं बैठे हैं। हमने उन्हें जान-बूझकर आश्रय दिया। पारसियोंने आक्रमण नहीं किया था। हमने समझ-बूझकर उन्हें जगह दी। हमारे राष्ट्रकी मर्यादाकी एक पुरानी परंपरा है—हम दूसरोंको अवसर दे सकते हैं और दूसरोंपर आक्रमण नहीं करते।

इस परंपरासे गांधीको यह विचार मिला। हमारे पास प्रतिकारका शस्त्र है। शस्त्र माने शासन या नियमन करनेवाला। यह अर्थ हाथपर घटित होता है। हथियार तो शस्त्र ही नहीं है। वह औजार है, जड़ वस्तु है। वह स्वतंत्र चीज नहीं है। उसकी दरकार नहीं।

हिंदुस्तानकी महान आवश्यकता, उसके इतिहासकी एकमात्र माग, पूरी करनेके लिए विचार उत्पन्न हुआ। इसीलिए वह फैला। ससारमे इतरत्र अहिंसाको स्थान नहीं है। हिंदुस्तानमे तरुण भी इसकी चर्चा करते हैं कि राष्ट्रीय व्यवहारमे हिंसा बडी है या अहिंसा ? अहिंसाके मार्गपर यह बहुत बडी प्रगति है। हम यह नही कहते कि सब-के-सब अहिंसावादी बन जाय। सबको विचार ही करना चाहिए। आज तरुणोने भी हिंसाका नए सिरेसे विचार शुरू किया है, यह सच्ची प्रगति है। इससे अधिक तेजीसे गाधीका विचार फैलना मुमकिन नही था। फैलना भी नहीं चाहिए। धीरे-धीरे, विचार करनेके बाद, सोच-समझकर ही उसको स्वीकार किया जाना चाहिए।

यह विचार-धारा हिंदुस्तानकी पूर्वपरपरामसे पैदा हुई है या नहीं ? मेरा मतलब हिंदुस्तानकी मुख्य पूर्वपरपरासे है, फुटकर प्रवाहोसे नहीं। हिंदुस्तानमे परपराके बहुत-से फुटकर प्रवाह है। मराठोकी, राजपूतोकी, सिक्खोकी, ऐसी कई परपराए हैं। लेकिन असख्य धर्मो और जातियोको एकत्र रखनेवाली जो परपरा है, वही मुख्य परपरा है। उसीमेसे इस विचारका निर्माण हुआ। उस परपराका अभिमान धारण कीजिए।

इस प्रकार नाजीवादका तत्व, अर्थात् उसका गुण, भी इस विचारसे भलीभाति मेल खाता है। जेलमे मैने इस परपराका विचार किया। महाराष्ट्र और हिंदुस्तानका विचार किया। ठठ वेद-कालसे लेकर आजतक सारे भारतके इतिहासमे जिन-जिन व्यक्तियोने क्राति की, उनका विचार किया। शक, हूण, द्राविड, आध्र, मुसलमान प्रभृतिमे हुए क्रातिकारक व्यक्तियोका इतिहास देखा। उसमे महाराष्ट्रकी परपरा इतनी छोटी ठहरती है, ब्राह्मणोकी इतनी क्षुद्र ठहरती है कि उनका अलग विचार करनेकी जरूरत नहीं। हिंदुस्तानकी परपरा एक महान वटवृक्षकी परपरा है। उस वटवृक्षका आश्रय करनेके बदले उसकी शाखाए काटकर सिर फोड लेना उदात्त अभिमानका लक्षण नही है। हिंदुस्तानकी परपरा हिंदू, मुसलमान, पारसी, सिक्ख, जैन बगाल, महाराष्ट्र, गुजरात आदि सबके श्रेष्ठ शास्त्रकारोकी और

असख्य साधु-सतोकी परपरा है। अगर मै इस परपराको छोड़ूंगा तो अपने राष्ट्रका तेजोवध करूगा; राष्ट्रको खस्सी करूंगा, इसके विषयमें मुझे सदेह नही रहा।

इस अर्थमे नाजीवादका पूर्वसस्कृतिके अभिमानका गुण भिन्न स्वरूपमें गाधीवादमे है। लेकिन उसका स्वरूप इतना भिन्न है कि उसमें नाजीवादके वशाभिमानका दोष नही है। हमारी पूर्वपरपरा व्यापक है। इसलिए उसका अभिमान भी करीब-करीब विश्वव्यापी है। उस पूर्वपरपराका सातत्य बनाये रखनेका, उससे अनुसधान रखनेका, गुण गाधीवादमें है। वह 'नाजीवाद' के पूर्वपरपराके अभिमानके सदृश है। उतना ही आकर्षक भी है। लेकिन 'नाजीवाद' के वशाभिमानकी सकुचितता उसमे नही है। इसलिए उसे अभिमान भी नही कह सकते। प्राचीन कालके सास्कृतिक प्रयत्नोसे अनुसधान रखना ही उसका मुख्य लक्षण है।

कुछ साम्यवादियोकी यह भाषा कि गरीबोका उद्धार करना चाहिए, गलत है। 'गरीबोका उद्धार करनेवाला, उन्हे उबारनेवाला, मै अलग हू, यह भावना उसमें छिपी हुई है।' 'अगर मै उन्हे न बचाऊ, तो उनका उत्थान नही हो सकता' यह मिथ्या अभिमान उसमे है। गरीबोका उद्धार उन्हींके हाथोमें है—गाधीने आम जनताको ऐसी शक्ति प्रदान की है। साम्यवादने रूसमें जो किया, वह यहा नही हो सकता। रूस-सरीखी सुविधा यहा असभव है। और न आवश्यक ही है। कारण उससे गरीबोको शक्ति नही मिलेगी। गरीबोका उद्धार गरीबोके ही द्वारा होना चाहिए। यह साम्यवादका सार है। उसे हम अपना लेते है। बादाम और दूधका भी शरीरके लिए उपयोगी अश ही हम स्वीकार करते है। साम्यवादके बारेमे भी सारासार विचार करना चाहिए। गरीबोका उद्धार गरीबोको ही करना चाहिए, उसका यह सारभूत अश हमें स्वीकार कर लेना चाहिए और नि सार अश त्याग देना चाहिए।

साम्यवादकी प्रक्रियामें हिंसाके द्वारा क्रातिका प्रतिपादन है। यह उसका नि सार अश है। हिंसाकी शक्ति जनताकी शक्ति नही हो सकती। विद्वत्ता भी आम जनता की शक्ति नही है। बुद्धि तो मुट्ठीभर ब्राह्मणोकी शक्ति मानी

जाती थी। वह उन्हींके ताले-कुंजियोंमे बद रहती थी। तलवार भी ग्राम जनताकी शक्ति नहीं है। बूढे, स्त्रिया, बच्चे, अशक्त, इनकी वह शक्ति नही है। वह तो बत्तीस इच या चौंतीस इच छातीवाले तगडे प्राणियोकी शक्ति है। इतने चौडे सीनेवाले ऊंचे-पूरे प्राणी हमेशा सज्जन ही नही होते। उनकी शक्ति स्थायी नही होती। हिंसाकी शक्तिमे जो अर्जन करोगे, उसे सभालनेके लिए निरतर हिंसा ही करनी पडेगी। गरीबोंकी, ग्राम जनताकी, वह शक्ति नहीं हो सकती।

जर्मनीकेद्वारा रूसपर आक्रमणका नैतिक समर्थन नही हो सकता। लेकिन तात्त्विक समर्थन हो सकता है। रूसका फौजी खर्च सालाना सोलह सौ करोडका है। मामूली, शातिके समय इतनी प्रचड सैनिक शक्ति बढती हुई देख उसे अनिरुद्ध बढने देनेके लिए जर्मनी गधा नही है। रूस इतनी फौज किसलिए बढा रहा था ? क्या सिपाहियाको गौरीमैयाकी तरह सजाकर उनकी आरती उतारनेके लिए ? साम्यवादको ससारमें हिंसासे रूढ करनेकी रूसने ठान ली है। इसलिए वह इतना फौजी खर्च करता है। साम्यवादी विचारोकी परपरा पनपने देना जर्मनीके लिए इष्ट नहीं है। इसलिए रूसकी ताकत तोड देना जर्मनीकी दृष्टिमे बुद्धियुक्त ठहरता है।

रूसकी शक्तिसे लाभ उठाना इग्लैण्डकी दृष्टिसे बुद्धिमानीका लक्षण है। इग्लैण्ड कहता है, "रूसकी फौजी शक्तिके प्रयोग द्वारा आज जर्मनीका सामना कर लें। साम्यवादसे बादमें निपट लेंगे।' रूस अमेरिकासे कहता है, "भाई, हमने धर्मकी बिल्कुल ही मिट्टी पलीत नहीं की है। तुम हमारी मदद कर सकते हो।"

अर्थात् रूसको पाखडियोंकी खुशामद करनी पडती है। यह क्या हो रहा है ? यह उस राष्ट्रकी परावलबी दशा है। क्या इससे साम्यवाद टिकेगा ? क्या वह सैनिक सत्तावादसे बच सकेगा ? अगर असाम्यवादी और वैषम्यवादी राष्ट्रोंकी मददसे विजय भी हो जाय, तो भी साम्यवाद नही रह सकता। पराजय हो तो बिल्कुल ही नहीं रह सकता। जो रूसमें सभव नही है—समार-

में वहीं संभव नहीं है—वह हिंदुस्तानमें कैसे हो जायगा ? हिंसा जनताकी शक्ति ही नहीं है। हम जनतामें तेज निर्माण करें।

हमने साम्यवादका सार— गरीबोंकी उन्नति करनेके लिए, उन्हें अपना उद्धार अपने तईं करनेको समर्थ बनानेकी आस्था—ग्रहण किया। निःसार वस्तु त्याग दी। नाजीवादका संदेश—पूर्वपरंपरासे अनुसंधानका गुण भी ग्रहण किया। लेकिन हमारे अभिमानको 'अभिमान' शब्द ही लागू नहीं है। इतना वह व्यापक है। जो राष्ट्र एकरंगी है, उनका देशाभिमान संकुचित होता है। हिंदुस्तानकी परंपरा मिश्रित और व्यापक है। व्यापक भारतकी, इस महामानव-समुद्रकी, मिश्रित परंपराका अभिमान संकुचित हो ही नहीं सकता। वह निष्कलंक है। इस प्रकार व्यापक भारतका अभिमान और गरीब लोगोंकी शक्ति प्रकट करना—ये दो गुण दो वादोंसे लेनेवाला यह तीसरा वाद मैंने यथासंभव तटस्थतासे तुम्हें बतलाया।

'यथासंभव' कहनेका कारण यह है एक अर्थमें मैं भी पक्षपाती हूं। मैं उस वादको मानता हूं। वह मेरे जीवनमें दाखिल हो गया है। फिर भी, मैं उसे जितनी तटस्थतासे रख सका, उतनी तटस्थतासे मैंने आपके सामने रक्खा है। मेरा पहला सूत्र याद रहे। मैं कहता हूं, इसलिए या गांधी कहते हैं इसलिए उसे न स्वीकारियें। व्यापक बुद्धि और तटस्थ वृत्तिसे विचार कीजिए।

यह बतला चुका हूं कि हिंसा जनताकी शक्ति नहीं है। अब यह दिखाना बाकी है कि अहिंसा जनताकी शक्ति कैसे हो सकती है ? याने अहिंसाको सामाजिक रूप कैसे दिया जा सकता है ? एक-एक व्यक्तिकी विजयके उदाहरण हमारे यहां और संसारमें पाये जाते हैं। एकनाथ महाराज, ईसा, सुकरातने दृढ़ताकी सामर्थ्य प्रकट की है।

प्रयोगकी प्रक्रिया ऐसी ही होती है। विज्ञानके क्षेत्रमें भी एक-एक व्यक्ति प्रयोगशालामें प्रयोग करता है। उसके सिद्ध होनेपर उस सिद्धांतका व्यापक प्रयोग अथवा सामाजिक विनियोग होता है। भापकी शक्तिका आविष्कार व्यक्तिगत प्रयोगसे हुआ है। चायकी केटलीकी भापपरसे आविष्कार हुआ। तदुपरांत समाजमें उसका विनियोग हुआ। यदि वह शोध

व्यक्तितक ही सीमित रह जाती, तो बेकार साबित होती अहिंसामें व्यक्तिगत प्रयोग भी अकारथ नहीं जाता। अहिंसाकी शक्ति व्यक्तिगत होनेपर भी कार्य करती है; उसे सामाजिक रूप दिया जाय तो बहुत बड़ा कार्य करती है।

एक शंका की जाती है 'क्या सारा समाज एकनाथ, बुद्ध या ख्रीस्त बन सकता है? यदि बन सकता, तो तुम्हारे सामने योजनाएं ही पेश न करनी पड़ती। हम-तुम सामान्यजन उनके प्रयोगसे लाभ उठा सकते हैं। उसके लिए उनके बराबर शक्तिकी जरूरत नहीं है। गुरुत्वाकर्षणके शोधके लिए न्यूटनमें विशेष बुद्धि होनी चाहिए। लेकिन उस शक्तिसे काम लेनेके लिए मिस्त्रीमें उतनी बुद्धिकी जरूरत नहीं है। हिटलर भी अपने क्षेत्रमें अद्वितीय है। वह नए-नए शस्त्रोंका शोध करता है। लेकिन उसे जिस बुद्धिकी जरूरत होती है, वह उन अस्त्र-शस्त्रोंका बरतनेवाले सिपाहीको नहीं होती।

प्रथम शोध करनेवालेको अद्भुत और अलौकिक होना ही चाहिए। लेकिन सामाजिक प्रयोगोंके लिए हरएकमें अलौकिक शक्तिकी जरूरत नहीं है। गांधीको अलौकिक, अद्वितीय शक्तिकी आवश्यकता है, अन्यथा वे आविष्कार नहीं कर सकते। लेकिन उस शक्तिके सामाजिक प्रयोगके लिए अलौकिक सामर्थ्यकी आवश्यकता नहीं है।

गुण्य-गुणकका उदाहरण लीजिए। तकली बिल्कुल छोटी-सी है। उसपर चालीस ही तार कत सकते हैं। लेकिन अगर उसे चालीस करोड़ हाथ चलाने लगे, तो चालीस करोड़ गुने चालीस तार होंगे। अहिंसा भी ऐसी है। तकलीकी तरह वह सीधी-सादी, सुविधाजनक और छोटी-सी है। उसे बूढ़े, बच्चे, स्त्रियां सब चला सकते हैं। मिलके लिए हॉर्सपावरकी जरूरत होती है। तकलीके लिए नहीं। एक ईसाको जितनी शक्तिकी जरूरत होती है, उतनी सामाजिक प्रयोगके लिए नहीं होती। क्राइस्ट अहिंसाके प्रयोगकी मिल और हम चालीस करोड़ लोग अहिंसाके प्रयोगकी तकलिया हैं। हम एक-एक तोला अहिंसक शक्ति प्राप्त करें, तो भी वह समाजके लिए हजरत ईसाकी अहिंसाकी अपेक्षा अधिक उपयोगी ठहरेगी। खेतमें एक

ही जगह मनो खाद डालनेसे काम नही चलता। अगर एक-एक इंच ही खाद सारे खेतमें बिखेर दिया जाय और वह जमीनमें गले, तो ज्यादा उपयोगी साबित होता है। हम भी अगर थोडी-थोडी अहिंसक शक्ति कमाए, तो हिमालयसे भी बुलद कार्य होगा, जो ईसाकी मनों अहिंसाकी अपेक्षा अधिक प्रभावोत्पादक होगा।[1]

सर्वोदय : फरवरी, १९४२

: १३ :

गो-सेवाका रहस्य

आज आपके सामने मैं जो थोडा-सा जिक्र करना चाहता हू, उसकी प्रस्तावनामें कुछ कहनेकी जरूरत मानता हू। कल हम लोगोंकी जो सभा हुई थी, उसमें मैंने कहा था कि आप लोग मुझे अध्यक्ष बना रहे हैं, लेकिन मैं कुछ जगली जानवर हू। इसीलिए अगर आपको कुछ असभ्यता मेरे वर्तावमें दिखाई पडे तो उसे बरदाश्त करना होगा। वैसे भी मेरा जन्म जगलमें हुआ, और जिसे आधुनिक शिक्षण कहते है, वह मुझे मिला न मिला, इतनेमें मुझे उपनिषद् पढनेकी इच्छा हुई। आपमेंसे कुछ लोग जानते ही होंगे कि उपनिषद् एक जगली साहित्य है। उसको सस्कृत भाषामें 'आरण्यक' कहते है। उसका हिंदीमें सीधा तर्जुमा 'जगली साहित्य' ही होगा। उसमें ईश्वरके स्वरूपका वर्णन करते हुए दो लक्षण बतलाए हैं—'अवाकी अनादरः'। यानी वह न बोलता है और न किसी चीजकी परवाह करता है। मेरे स्वभावमें भी यह बात आगई। और ऐसी छोटी-मोटी कई बाते हो सकती है, जिनकी कि मैं परवाह करता हू या नही करता, उसका भी पता मुझे नही रहेगा। कृपया उनको आप सह लेंगे।

---

[1] वर्धाके 'जीवन-समीक्षक मडल' में (२२ दिसबर, १९४१ को) दिया गया भाषण।

दूसरी बात, जो उसीका हिस्सा है, मुझे यह कहनी थी कि मेरी मातृ-भाषा मराठी है, और मराठी भाषामें यद्यपि अद्भुत सामर्थ्य भरी हुई है, तो भी एक चीजकी कमी है। वह यह कि जिसको दरबारीपन या सभ्यता कहते हैं—जो उर्दू, हिंदी, हिंदुस्तानी भाषामें है—वह मराठीमें मौजूद नहीं है। हम हजार कोशिश करें तो भी 'आप आइएगा, बैठिएगा' का तर्जुमा मराठीमें ठीक-ठीक कर नहीं सकते। इसलिए इस दृष्टिसे जो कुछ कमियां मुझमें रह गई हों, उन्हें आपको बरदाश्त करना होगा।

इसके बाद प्रस्तावनामें एक बात और मुझे कहनी होगी। मुझे सूचित किया गया था कि मैं अपना व्याख्यान लिखकर दे दूं। शायद यह सभ्यताका ही एक रिवाज है। लेकिन वह मैं नहीं कर सका; क्योंकि अक्सर लोगोंको देखे बिना मुझे कुछ सूझता ही नहीं, यह तो हमेशाकी बात हुई। लेकिन इस वक्त एक खास वजह यह भी थी कि यहांपर बापूका व्याख्यान होनेवाला था। मैंने सोचा कि उनका व्याख्यान मैं सुनूंगा और उसके प्रकाशमें बोलूंगा, यानी उन बातोंको दुहराऊंगा, जिनका उन्होंने विस्तार किया होगा; और उन्होंने जो बातें नहीं कही होंगी, उन्हें मैं कहूंगा। यह सोचकर मैंने अपना भाषण लिखकर नहीं भेजा और अब वह व्याख्यान जबानी ही हो रहा है। अगर इस चीजके लिए क्षमा मांगनेकी जरूरत मानी जाती हो तो वह मैं मांग लेता हूं।

पहले तो मैं नामसे ही शुरू करूंगा। क्योंकि नामकी महिमा सभी जानते हैं। हमारे संघका नाम 'गो-सेवा-संघ' है। उसको सुनते ही सहज सवाल होता है, कि "क्या आपने कभी 'गो-रक्षा' शब्द सुना है ? उसे जानते हुए भी 'गो-सेवा' शब्द आपने रखा है, या यों ही बे-सोचे-समझे या अनजानमें गो-सेवा नाम रख दिया है ?"—इसका जवाब देना जरूरी है।

संस्कृतमें 'गो-सेवा' शब्द हमको शायद ही मिलेगा। वहां 'गो-रक्षा' शब्दका प्रयोग है। इसलिए हम सब लोग वह शब्द जानते हैं। लेकिन जानकर भी हेतुपूर्वक, उसको छोड़ा है और 'गो-सेवा' शब्द अधिक नम्र समझकर चुन लिया है। यानी हम अपनेमें गो-रक्षाकी सामर्थ्य नहीं पाते, इसलिए

गो-सेवासे संतोष मान लिया है। अर्थात् दयाभावसे, हमसे जितनी हो सकेगी, उतनी हम गायकी सेवा करेंगे और भगवानकी कृपासे जब हममें ताकत आ जायगी, तब फिर हम गो रक्षा करेंगे।

लेकिन, जब हम गो-सेवा-संघ कहते हैं, तो यह पूछा जायगा कि "आप लोग गायकी क्या सेवा करना चाहते हैं?" अगर आप गायका दूध और घी बढ़ाना चाहते हैं, और अच्छे बैल पैदा करना चाहते हैं, तो उसमें कौन-सी गो सेवा है? उसमें तो आप लोग अपनी खुदकी ही सेवा करना चाहते हैं। अंग्रेज लोगोंने 'पब्लिक सर्विस' शब्द निकाला है वैसी ही आपकी यह 'गो सेवा' हुई—ऐसा आक्षेप हो सकता है। उसके जवाबमें कुछ कहना ठीक होगा।

हम लोग अपनी मर्यादा समझते नहीं। इसीलिए यह सवाल उठ सकता है। सेवा और उपयोगके बीच कोई आवश्यक विरोध नहीं है, यह समझनेकी जरूरत है। हम जिस प्राणीका उपयोग नहीं करते, उसकी सेवा करनेकी ताकत हममें नहीं होती, यह हमारी मर्यादा है। उसमें स्वार्थका कोई मुद्दा नहीं है। एक-दूसरेकी सेवा करनेका यही एक रास्ता हमारे लिए ईश्वरने खुला रक्खा है। नहीं तो, जैसा कि बापूने बताया, पिंजरापोलोंमें जो होता है, वही सारे समाजमें होता रहेगा। आज भी हम यही हाल देखते हैं। पशुओंको खिलाते हैं और आदमीको भूखा रखते हैं। इस तरह दया या सेवा तो नहीं होगी, बल्कि निर्दयता या असेवा होगी।

ईश्वरके अनंत गुण हैं, उनमेंसे हमें अनेक गुणोंका अनुकरण करना है। लेकिन ईश्वरका जो विशेष गुण है, उसका अगर हम अनुकरण करेंगे, तो वह अहंकार होगा। ईश्वरके और सब गुणोंका अनुकरण शक्य है, परंतु उसके विशेष गुणका, यानी उसके ऐश्वर्यका, अनुकरण शक्य नहीं। वह सृष्टिका पालन करता है और संहार भी करता है। इसमें हम उसका अनुकरण नहीं कर सकते। बहुत लोग तो चींटियोंके लिए शक्कर डाल देंगे। चींटियां वहां इकट्ठी हो जायंगी और अगर संयोगसे वहांपर एकाध बैल आ जाय, तो उसके पैरके नीचे वे खतम हो जायंगी। जब ऐसी बात होगी, तो उसकी जिम्मेदारी मैं कैसे उठाऊंगा? मैं तो कह दूंगा कि यह तो ईश्वरकी करतूत है।

यहां मुझे एक घटना याद आती है। एक थी बुढ़िया। उसके एक बेटा था। बेटा उसकी मानता नहीं था। इसलिए वह बहुत दुःखी रहती थी। जब उसके पास मैं पहुंचा, तो वह कहने लगी, "मैंने इसको पाला पोसा; लेकिन यह मेरी सुनता ही नहीं।"

मैंने उससे पूछा, "तेरे क्या यह अकेला ही लड़का है?"

उसने कहा, "हां, तीन-चार और थे, वे सब मर गये।"

तब मैंने अपने जंगली ढंगसे सीधा सवाल पूछा, "माजी, तुमने अपने तीन-चार लड़कोंको क्यों मार डाला?"

आप समझ सकते हैं कि मेरे इस जंगली सवालसे उसके दिलपर कितनी चोट लगी होगी। थोड़ी देरके लिए वह सहम गई और बादमें कहने लगी, "मैं क्या करूं? भगवानने चाहा सो हुआ।" तब मैं उससे पूछता हूं, "अगर तुम्हारे तीन लड़कोंको भगवानने मार डाला है, तो तुम्हारा यह जो चौथा बेटा है, उसको पाला-पोसा किसने? पाला-पोसा तो तुमने और मार डाला भगवानने, यह कैसे हो सकता है? या तो दोनों जिम्मेदारियां उठाओ या दोनोंको छोड़ दो।"

जिस प्राणीका हमें उपयोग नहीं है उसकी सेवा हमसे नहीं हो सकती। गो-सेवाका रास्ता सीधा है। गायका हमें ज्यादा-से-ज्यादा उपयोग तो है ही। यह करनेकी कोशिश करेंगे और उसके साथ-साथ उसकी सेवा, अधिक-से-अधिक जितनी हो सकती है, करेंगे, जैसेकि हम अपने बच्चोंकी सेवा करते हैं। यही इसका सीधा अर्थ होता है।

गो-सेवाका प्रथम पाठ हमें वैदिक ऋषि-मुनियोंने सिखाया और समझाया है। कुछ लोगोंका कहना है कि गो-सेवाका पाठ पढ़ाकर ऋषियोंने हममें अनुचित पूजाके भाव पैदा किये हैं। ऐसी पशु-पूजा वैज्ञानिक नहीं है। वस्तु-स्थिति ऐसी नहीं है। जिस तरह हम उपयोगकी दृष्टिसे विचार करते हैं, उसी तरह सीधे उपयोगकी दृष्टिसे ऋषि-मुनियोंने भी विचार किया। उसी दृष्टिसे उन्होंने बतलाया है कि हिंदुस्तानके लिए गो-सेवा मुफीद है। इसलिए वही धर्म हो सकता है। तब हमारा यह कर्तव्य हो जाता है कि हम

गायका जितना हो सकता हो उतना उपयोग करे। वेदका वचन है—

सहस्रधारा पयसा मही गौ.।

ऐसी गाय जिससे कि हजार धाराए रोज पैदा होती हा। आप समझ सकते हैं कि दूधकी एक धारा कितनी होती है। हिसाब करनेपर मालूम होगा कि वैदिक गायका दूध चालीस-पचास रतल होता था। इसपरसे आप समझ लेंगे कि उनकी मशा क्या थी और गायोंसे क्या अपेक्षा रखते थे। आजकल गायका दूध नही मिलता, ऐसी शिकायत आती है। वैदिक ऋषियोंने गो-सेवाकी दिशा भी बतलाई है।

अक्सर सुना जाता है कि दूध तो गायोंसे ज्यो-त्यो मिल सकता है, परतु घीके लिए तो भैसकी ही शरण लेनी पड़ेगी। लेकिन हमारे प्राचीन वैदिक ऋषि यह नही मानते। वे कहते हैं—

यूय गावो मेदयथा कृश चित्।

हे गायो, जिसका शरीर (स्नेहके अभावसे) सूख गया हो, उसे तुम अपने मेदसे भर देती हो। यहा मेदयथा यानी मेदती हा' का इस्तेमाल किया गया है। मेद कहते हैं चरबीको, स्नेहको, जिसे हम 'फैट' कहते है। इसका मतलब यह है कि दुबले पतलेका मोटा-ताजा बनाने लायक चरबी गायके दूधमें पर्याप्त मात्राम होनी चाहिए और अगर आज गायके दूधमे घीकी मात्रा कम मालूम होती हैं, तो उसे बढाना हमारा काम है। वह कसर गायमे नही, बल्कि हमारी कोशिशम है।

उसीकी पुष्टिम उन्होने गायका वर्णन या किया है—

अश्रीर चित् कृणुथा सुप्रतीकम्।

जो शरीर अ-श्रीर है, *उसे गाय श्रीर बनाती है। 'श्रीर' का अर्थ शोभन* है और 'अश्रीर' का अथ 'शोभाहीन । 'अश्रीर' से ही 'अश्लील' शब्द बना है। इसपरसे आप समझ लगे कि हमको गो-सेवाका पहला पाठ वैदिक ऋषियोंने पढाया है, उसके विकासकी दिशा भी बतला दी है और वह दिशा अनुचित

पूजाभावकी नहीं, बल्कि शुद्ध वैज्ञानिकताकी है। यानी परम उपयोगिता की है।

सेवासे मतलब उपयोगहीन सेवा नहीं है। उपयोगके साथ-साथ उपयोगी जानवरकी यथासंभव अधिक-से-अधिक सेवा करना ही उसका अर्थ है। उसका भाव यह है कि उपयोगी जानवरको हमें अधिकाधिक उपयोगी बनाना है और इसी तरह हम उसकी अधिक-से-अधिक सेवा कर सकते हैं, जैसाकि हम अपने बाल-बच्चोंके विषयमें करते हैं। इस तरह हमारे लिए सेवाका उपयोगके साथ नित्य संबंध है। अब मैं जरा और आगे बढ़ता। जैसे हम उपयोगहीन सेवा नहीं कर सकते, वैसे ही सेवाहीन उपयोग भी हमें नहीं करना चाहिए। गो-सेवा-संघके नाममें 'सेवा' शब्द का यही अर्थ है। यानी हम बगैर सेवाके लाभ नहीं उठाएंगे। यह आज भी होता है। हम ढोरोंकी सेवा कुछ-न-कुछ तो करते ही हैं। लेकिन शास्त्रीय दृष्टिसे जितनी करनी चाहिए उतनी नहीं करते। क्योंकि शास्त्रीय दृष्टि हमारे पास नहीं है, विशेषज्ञोंसे इस काममें हम सहायता जरूर लेंगे। लेकिन हम सब काम उनपर नहीं छोड़ना चाहिए हमें गायकी प्रत्यक्ष सेवा करनी चाहिए। जब ऐसा होगा, तब उसमेंसे गो-सेवाका थोड़ा-बहुत शास्त्र हमारे हाथ आ जायगा।

पवनारम हमारे आश्रमके एक भाई, नामदेवने, दो-चार गायें पाली हैं। बाजारके लिए उसे एक दिन सेलू जाना पड़ा। शामको नामदेव वापस लौटा और गाय दुहनेके लिए बैठा, तो गायने दूध नहीं दिया। उसने काफी कोशिश की। तब उसने पूछा, "आज गायको क्या हो गया है?" जवाब मिला, "कुछ तो नहीं। पता नहीं दूध क्यों नहीं देती? बछड़ा भी तो बंधा हुआ था। इसलिए वह भी दूध नहीं पी सका होगा।" निदान नामदेवने पूछा, "किसीने उसे मारा-पीटा तो नहीं?" एक भाईने कहा, "हां मारा तो था।" नामदेवने कहा, "बस तो वह इसीलिए दूध नहीं देती।" फिर नामदेव गायके पास पहुंचा, उसके शरीरपर हाथ फेरा, उसे पुचकारा। तब गाय कुछ देरके बाद दूध देनेके लिए तैयार होगई। यह किस्सा इसलिए कहा कि हमें समझना चाहिए कि जब हम नामदेवकी तरह गोसेवा करेंगे, तो उसीमेंसे

इसमें लक्ष्य है। हिंदुस्तानकी भूमियों और गायोंकी जो हालत है, उसे देखिए। समवत. बिना साझेके यह काम आगे नहीं बढ सकेगा। शायद जगह-जगह इसे सघका स्वरूप देकर ही यह काम करना होगा। गो-सेवा 'सघ' शब्दसे इस तरहका भाव दोहन करके अगर हम निकालेंगे, तो उसमें एक गुण और मिल जायगा। गो-सेवा कार्यमें साझेदारी या साघिक प्रयत्नकी जितनी जरूरत है, उतनी और किसी कार्यमें शायद ही हो। हिंदुस्तानकी आजकी हालतमें हरएक किसान अपने-अपने घरमें गाय पाले, शास्त्रीय दृष्टिसे उसकी हिफाजत करे, यह बात मुश्किल मालूम होती है। इसीलिए गावोंमें साघिक रचना करनी पड़ेगी। यह एक विशेष अर्थ 'गो-सेवा-सघ' शब्दसे निकल सकता है।

अब मैं और भी आगे बढता हू। गो-सेवा-सघके कार्यका आरभ प्रतिज्ञासे होता है। अभिप्राय यह है कि अगर हम गायके ही दूध-घीका सेवन करेंगे, तो उसकी सेवा करनेकी इच्छा पैदा होगी। इसलिए आरभमें गायके ही दूध-घीके सेवनकी प्रतिज्ञा रक्खी गई है। कई लोग पूछते है, "प्रतिज्ञाकी क्या जरूरत है? बिना प्रतिज्ञाके काम नहीं हो सकेगा।" उत्तरमें मैं अपना अनुभव बता दू। मैंने देखा है कि जिस प्रयत्नका आरभ सकल्पसे होता है वह जैसे फलता है, वैसे केवल मशाका प्रयत्न नहीं फलता। कोई महान कार्य सकल्पके बिना नहीं होता। अगर सकल्पसे आरभ करते है, तो आधेसे अधिक कार्य वहीं हो जाता है। प्रतिज्ञा सिर्फ यही नहीं है कि घी-दूध खायगे या नहीं खायगे। गायके दूध घीकी पैदाइश बढानेकी कोशिश करेंगे, यही प्रतिज्ञाका मतलब है।

प्रतिज्ञा लेनेमें अक्सर यह आपत्ति उठाई जाती है कि हम दूसरोंके घर ऐसे नियम लेकर जायगे तो उनको तकलीफ होगी। इसीलिए इसका जवाब बापूने अपनी अहिंसाकी भाषामें दिया है। मैं अपनी 'अनादर' की भाषामें बताना चाहता हू। इतना तकल्लुफ हम क्यों रखना चाहिए। सूर्यको हम उसकी किरणोंसे जानते हैं। वह जहा जाता है, अपनी किरण साथ ले जाता है, चाहे वे किसीको ताप दे, या आह्लाद दे, वह इस बातकी परवाह नहीं

सेवा करते थे, उसको देखा। रास्तेमें ही वह भैंस ब्यायी—पुत्र-जन्म हो गया! लेकिन उस आदमीको उस पुत्रजन्मसे बड़ी झुंझलाहट हुई! उसने सोचा, यह पुत्र कैसा? यह तो एक बला आगई! मनुष्यको तो पुत्र-जन्मसे आनंद होता है; लेकिन भैंसके पुत्रको वह सहन नहीं करता। उसने उस पुत्रको वहीं छोड दिया और भैंसको लेजाकर वर्धाके बाजारमें बेच दिया और जो-कुछ पैसा मिला वह लेकर अपने घर चलता बना, बेचारा भैंस-पुत्र वहीं पडा रहा। मनोहरजी बेचारे दयालु ठहरे। फिक्रमें पडे कि अब इसका क्या किया जाय? जिस खेतमें वह रहते थे उस खेतके मालिकके पास गये और उससे कहा, "भैया, इसको सभालोगे?" मालिकने कहा, "यह क्या बला आगई? मैं उसको कैसे रखूं? आखिर उसका उपयोग ही क्या है? मैं उसकी परवरिश क्यों करूं? उसको आखिर दशहरेके दिन कत्ल होनेके लिए ही बेचना होगा। इसके सिवा और दूसरा कोई रास्ता नहीं है।"

मैंने यह एक नित्यकी घटना आपके सामने रखी। तो, सबसे पहले बेचारा भैंसा मरता है। फिर उसके बाद गाय मरती है। उसके पश्चात् भैंस मरती है और सबसे आखिरमें बैल। बैल सबसे उपयोगी है और इसीलिए उसकी हिफाजत करनेकी विशेष कोशिश की जाती है। लोग किसी-न-किसी तरह उसको खिलाते रहते हैं और उसे जिलानेकी कोशिश करते हैं। यह तो हुई उपयोगिताकी बात। बैल इन सब जानवरोंमें सबसे ज्यादा उपयोगी तो साबित हुआ। लेकिन सवाल यह है कि गायकी सेवाके बिना अच्छे बैल कहांसे आयगे? हिंदुस्तानका आदमी बैल तो चाहता है, लेकिन गायकी सेवा करना नहीं चाहता। वह उसे धार्मिक दृष्टिसे पूजनेका स्वांग रचता है। दूधके लिए तो भैंसकी ही कद्र करता है। हिंदुस्तानके लोगोंकी यह मंशा है कि उनकी माता तो रहे भैंस और बाप हो बैल! यह योजना तो ठीक है; लेकिन वह भगवानको मंजूर नहीं है! इसलिए यह मामला बहुत टेढा हो गया है। भैंस और गाय दोनोंका पालन हिंदुस्तानके लिए आज बड़ी मुश्किल बात हो गई है।

लेकिन हमें यह समझना चाहिए कि गो-सेवामें गायकी ही सेवाको

महत्व देना पडता है। बापूने कहा कि अगर हम गायको बचा लगे, तो भैसका भी मामला तय हो जायगा। इसका पूर्ण दर्शन तो अभी मुझे भी नहीं हुआ है और शायद उसकी अभी जरूरत भी नहीं है।

गाय और भैसको एक-दूसरेकी विरोधी माननेकी जरूरत नही है। लेकिन हम तो गो-सेवासे आरभ कर देना है और वही हो भी सकता है। हमे समझना चाहिए कि आज हम दरअसल भैसकी सेवा भी नहीं करते। आज हम जो भैसकी सेवा करते हैं, वह दरअसल न तो गोसेवा है और न भैसकी सेवा ही है। हम उसम केवल अपना स्वार्थ देखते हैं। हम भैसका केवल सेवाहीन उपयोग करत है। जिस प्रकार उपयोग-हीन सेवा हम नही कर सकते, उसी प्रकार सेवा-हीन उपयोग भी हम नहीं करना है।

जैसा कि मै बता चुका हू, आज भैसकी हर तरहसे उपेक्षा की जाती है। वस्तुस्थिति यह है कि हिदुस्तानके कुछ भागाम भैसेका उपयोग भले ही किया जाता हो, लेकिन साधारणत हिदुस्तानकी गरम हवाम भैसा ज्यादा उपयोगी नही हो सकता, भैसका हम केवल लाभसे पालन कर रहे हैं। नागपुर-बरारम गर्मियोम गर्मीका मान एकसौ पद्रह अश तक चला जाता है। खासकर उन दिनोम भैसको पानी जरूर चाहिए। मगर यहा तो पानीकी कमी है। पानीके बगैर उसको बेहद तकलीफ होती है। क्योकि भैस पूरी तरह जमीनका जानवर नही है। वह आधा जमीनका और आधा पानीका प्राणी है। गाय तो पूरी तरह थलचर है। और अक्सर देखा जाता है कि जो पानीवाला जानवर हो, उसके शरीरम भगवानने चरबीकी अधिकता रखी है, क्योकि ठड और पानीसे बचनेके लिए उसकी उसे जरूरत होती है। मछलीके शरीरमे स्नेह भरा हुआ रहता है। पानीके बाहर निकालते ही वह सूयके तापसे जल जाती है। वैसी ही कुछ-कुछ हालत भैसकी भी है। उसे धूप बरदाश्त नही होती। इसीलिए लोग गर्मीके दिनोम उसीके मलमूत्रका उसकी पीठपर लेप करते हैं, ताकि कुछ ठडक रहे। वे जानते है कि इस जानवरको उस समय कितनी तकलीफ होती है। देहातोम जाकर आप लोगोसे पूछगे कि आपके गावमे कितनी भैस और कितने पाडे है, तो वे कहग कि भैस हे करीब सौ-डेढसौ और पाडे है

कुल दस, या बहुत तो बीस। अगर हम उनसे पूछेंगे कि इन स्त्री-पुरुषों या नर-मादाओंकी संख्यामें इतनी विषमता क्यों है ? तो हमारे देहातोंके लोग जवाब देंगे, 'क्या करें ? भगवानकी करतूत ही ऐसी है कि भैंसा ज्यादा दिन जीता ही नहीं'। आखिर यहां भी भगवानकी करतूत आ ही गई ! यह हमारे बुद्धिनाशका लक्षण है। हम उसकी तकलीफका ध्यान न करते हुए भैंसका उपयोग करते हैं, कि भैंसे जिंदा ही नहीं रहते और नहीं रहेंगे। मतलब, हम भैंसकी सेवा करते हैं, ऐसी बात नहीं है। उसमें हम सिर्फ भैंसका उपयोग ही करते हैं। बाकी उसकी सेवा कुछ भी नहीं करते। इसलिए आपकी समझमें आ गया होगा कि सेवा-संघकी स्थापना हम किसलिए करते हैं।

चंद लोग पूछते हैं, "हिंदुस्तान एक कृषि-प्रधान देश है, इसलिए खेतीके वास्ते बैल चाहिए और बैल चाहिए तो गाय भी चाहिए, इत्यादि विचार-श्रेणी तो ठीक है; मगर क्या हिंदुस्तानका यही एक अर्थशास्त्र हो सकता है ? क्या दूसरा कोई अर्थशास्त्र ही नहीं हो सकता ? समय आनेपर हम खेतीका काम ट्रैक्टरसे क्यों न करें ?"

उसके जवाबमें मैं यह पूछता हूं कि ट्रैक्टर चलायंगे तो बैलका क्या होगा ? जवाब मिलता है, "बैलको हिंदुस्तानके लोग खा जायं। हिंदुस्तानके लोग दूसरे कई जानवरोंका मांस बराबर खाते हैं; उसी तरह बैलका मांस भी खा सकते हैं। यह रास्ता क्यों न अपना लिया जाय ?" इस तरह जब बैलोंको खा जानेकी व्यवस्था होगी, तभी ट्रैक्टर द्वारा जमीन जोतनेकी योजना हो सकती है। कहा जाता है कि बैलोंको अगर हिंदू नहीं खायंगे, तो गैर-हिंदू खायं। आज भी हिंदू गायको बेचते ही हैं। खुद तो कसाईसे पैसा लेते हैं और गो-हत्याका पाप उसे दे देते हैं। ऐसी सुंदर आर्थिक व्यवस्था उन्होंने अपने लिए बना ली है। वह कहता है कि अगर मैं कसाईको गाय मुफ्तमें देता, तो गो-हत्याके पापका भागी होता। लेकिन मैं तो उसे बेच देता हूं—इसलिए पापका हिस्सेदार नहीं बनता, उस व्यवस्थाको आगे बढायंगे, तो सब ठीक हो जायगा। हम भैंससे दूध लेंगे, बैलोंको खा जायंगे और यंत्रोंके द्वारा खेती करेंगे—इस तरह तीनोंका सवाल हल हो जायगा।

इसके जवाबमें मैं आप लोगोंको यह समझाना चाहता हूं कि बैलोंको क्यों नहीं खाना चाहिए ? पूर्वपक्षकी दलील यह है कि कुछ प्रेज्युडिस्ड लोग यानी पूर्वग्रह दूषित लोग बैलको भले ही न खाय; लेकिन बाकीके तो खायगे और हम यत्रके द्वारा मजेमें खेती करेंगे। इस विषयमें हमारे विचार साफ होने चाहिए। मैं मानता हू कि हिंदुस्तान की आजकी जो हालत है और आगे उसकी जो हालत होने वाली है, उस हालतमें अगर हम मासका प्रचार करेंगे और यत्रसे खेती करेंगे, तो हिंदुस्तान और हम जिंदा नहीं रह सकेंगे। यह समझनेकी जरूरत है। हिंदुस्तानके लोग भी अगर गाय-बैल खाने लगेंगे, तो कितने प्राणियोंकी जरूरत होगी ? उतने बैलोंकी पैदाइश हम यहा नहीं कर सकेंगे। सिर्फ मास या गोश्त खानेका ढोंग तो नहीं करना है। मास अगर खाना है तो वह हमारे भोजनका नियमित हिस्सा होना चाहिए। तभी तो उससे अपेक्षित लाभ होगा। लेकिन हम जानते हैं कि लोग खा सके इतने बैल पैदा नहीं हो सकेंगे। अगर हम इस तरह करने लगे और खेती ट्रैक्टरके द्वारा होने लगी, तो ट्रैक्टरका खर्च बढेगा और गोश्त भी पूरा नहीं पडेगा और आखिरमें गाय और बैलका वश ही नष्ट हो जायगा और उसके साथ मनुष्य भी।

यूरोप और अमेरिकाकी क्या स्थिति है ? दक्षिण अमेरिकाके अर्जेण्टाइनाके बदरगाह ब्युनॉस-आयरिसमे रोज करीब-करीब दस हजार बैल कटते हैं और वहासे गोश्तके पीपे दूर-दूरके देशोंको भेजे जाते हैं। अब तो यह व्यवस्था यूरोपके कामकी नहीं रही। लेकिन वैसे भी अगर यह सिलसिला जारी रहा तो आगे चलकर लोगोंको गोश्त मिलना कठिन हो जायगा, इसलिए यूरोपके डॉक्टराने अब यह शोध की है और बहुत सोच विचारकर निर्णय किया है—सभव है उसमें मतभेद होगा क्योंकि डॉक्टरोंमें मतभेद तो हुआ ही करता है—कि गोश्तके मुकाबलेमें दूधमें गुण अधिक है। यह शोध हमारे वैद्यो और हकीमोंने बहुत पहले किया है। मैं मानता हू कि आज यूरोपके लोग जिस तरह मासाहार करते हैं उसी तरह हिंदुस्तानके लोग भी पुराने जमानेमें मासाहार करते थे। आखिर वे इस नतीजे पर पहुचे कि

अगर हम मासके बजाय दूधका व्यवहार करेंगे, तो हम भी जिंदा रहेंगे और जानवर भी जिंदा रहेंगे। इसलिए ट्रैक्टरका उपयोग हमारा सवाल हल नहीं कर सकता और हमें यह समझना चाहिए कि गोश्तके बजाय दूधपर भरोसा रखना सब तरहसे लाजिमी होगा।

मेरी यह भविष्यवाणी है कि जैसे-जैसे जनसंख्या बढती जायगी, वैसे-वैसे दुनियाभरमें गोश्तकी महिमा कम होगी और दूधकी बढेगी। पूछा जाता है कि 'आखिर दूध भी तो प्राणिजन्य वस्तु है ?' हा है तो सही, 'फिर दूधको पवित्र क्यो माना गया ?' उसका जवाब अभी मैंने जो कुछ कहा उसीमें मिल सकता है। जैसाकि अभी मैंने कहा, एक समय था जब कि हिंदुस्तानमें मासाहार ही चलता था। उस वक्त उसमेंसे बचनेके लिए क्या किया जाय, यह सवाल उत्पन्न हुआ। योगियो और वैद्योने जब लोगोंके सामने गायके दूध की महिमा रक्खी, तबसे दूध ऐसी चीज हो गई जिसने लोगो को मासाहारसे छुडाया। इसलिए दूध पवित्र माना गया। इसके सबूत आपको वेदोमें मिल सकते हैं। ऋग्वेदमें यह वचन

गोभिष्टरेम अमतिं दुरेवां,

यवेन क्षुधं पुरुहूत विश्वाम्।

पाया जाता है। इस मत्रका अर्थ मैंने इस तरह किया है—"भूखको तो हम अन्नके द्वारा मिटा सकते हैं। लेकिन 'दुरेवा अमति' का यानी दुर्भाग्यमें ले जानेवाली अबुद्धिका अर्थात् गोश्तकी तरफ ले जानेवाली अबुद्धिका, गायके दूधके द्वारा ही हम निवारण कर सकते हैं।" सब तरहकी अबुद्धि मिटानेके लिए और उसमसे जहर निकालनेके लिए गायका दूध हमारे काम आता है। इसीलिए गायका दूध पवित्र माना गया है। मतलब यह कि कुल मिलाकर यत्रवादी जो ट्रैक्टरपर आधार रखनेकी बात कहते हैं, वह गलत है।[1]

सर्वोदय: मार्च, १९५२

---

[1] गोसेवा संघके सम्मेलनके अवसरपर (१ फरवरी, १९५२ को) अध्यक्षपदसे दिया गया भाषण।

: १४ :

जीवित मृत्यु

कल शामको चार बजे महिलाश्रममें मेरा व्याख्यान था। उस व्याख्यानके लिए मैं वहा पहुचा। बहन आ बैठी। मैं अपना व्याख्यान शुरू करनेवाला था कि इतनेमें मोटर आई। सदेश मिला कि जमनालालजी बीमार हैं। मुझे बुलाया है। जमनालालजी ऐसे खास बीमार तो थे ही नहीं, सदाकी भांति वह दोपहरतक अपना काम करते रहे थे, इसलिए उनकी बीमारीकी गभीरता मैं न समझ सका। किंतु व्याख्यान छोडकर मैं गाधी-चौक पहुचा। गाडीसे उतरते ही दिलीप ऊपरसे नीचे आये। उनके चेहरेपर दुःख की छाया थी, परतु फिर भी मैं पूरी कल्पना नही कर सका। स्वास्थ्यके बारेमें पूछनेपर उन्होंने कहा—"वह तो गये।"

ऐसी अनपेक्षित, दुःखदायी, चित्तको हिला देनेवाली खबर सुनकर मुझे क्या महसूस हुआ होगा यह आप समझ सकते हैं। खबर तो क्लेशदायी थी, परतु मुझे अपने भीतर एक आनन्दका आभास हुआ। मनकी उसी अवस्थामें मैं उनके कमरेमें गया। वहा जो लोग बैठे थे उन सबके चेहरेपर जब मैंने दुःखकी छाया देखी तो मैंने महसूस किया कि घटना ऐसी ही हुई है जिससे कइयोंको दुःख हो सकता है। फिर भी मुझे मानना चाहिए कि मेरी आनदकी भावनामें कमी नही हुई व अग्निदाहपर गीता व उपनिषदोंका पाठ करते समय आनदकी उस भावनाकी सीमा नहीं रही।

मेरी यह अवस्था रातभर ऐसी ही रही। प्रातः उठनेपर जमनालालजीके चले जानेसे हम लोगोंको जो क्षति हुई व हमपर जो जिम्मेदारी आ पडी उसकी भी पूरी कल्पना हुई। आगेका सब हाल आप समझ सकते हैं।

परतु मेरी खुशीका कारण मुझे आपको बताना होगा। जबसे मुझे मालूम हुआ था कि जमनालालजीने गो सेवाके कामकी जिम्मेदारी ली है। मुझे सतोष हुआ था। यह कार्य जमनालालजीने उठाया, तो देशको तो इससे लाभ तो होगा ही, उनके चित्तको भी शांति मिलेगी, लेकिन उनके थके हुए शरीरके

लिए यह काम बहुत ज्यादा होगा, ऐसा मेरा खयाल था। जेलमे छूटनेपर उन्होंने इस नए कामके बारेमे मेरी राय पूछी। मैंने अपना संताप व्यक्त किया। उनकी आखोमे आसू चमके। तबसे आजतक इन दो महीनोंमे मैंने देखा कि वह खुश थे, उनके चित्तमे प्रसन्नता थी, इसलिए कि उन्हे एक पवित्र तथा आत्मोन्नतिमे सहायता देनेका कार्य मिला और जब वह चल बसे, तब उनकी मानसिक अवस्था जितनी अच्छी थी, उतनी उनके पिछले बीस वर्षोमे कभी नही थी। पिछले बीस वर्षोसे उन्हे सूक्ष्म आत्मनिरीक्षणकी आदत थी। परतु मनकी जो उन्नत अवस्था वे अबतक प्राप्त न कर सके थे वह इन दो-तीन महीनोमे उन्होंने बडी तेजीसे हासिल कर ली थी। अबकी बार ही मैं देख सका कि जमनालालजीके दिलमे देह-भावका अवशेष भी नही रहा था, केवल सेवा-ही-सेवा रही। इससे अच्छी मृत्यु और क्या हो सकती है ? अतिम समयपर सेवा करते रहनेपर मृत्युका प्राप्त होना कितने भाग्यकी बात है ! इसलिए इस दु खदायी घटनामे भी जो सुखदायी बात छिपी हुई है, वह आपके सामने रखनेकी मेरी इच्छा हुई। हम भी ऐसी मृत्युकी परमेश्वरसे याचना करनी चाहिए।

तुलसीदासने रामायणमे राम-वाली-संवाद दिया है। भगवान रामका वाण लगनेपर वालीने रामको उलहना दिया। तब वह कहते है "ओ मेरे प्यारे बालक, मैंने तो तुझपर बाण नही, प्रेम बरसाया है। अगर तुम चाहो तो मैं तुम्हे जिंदा रख सकता हू।" वालीने उस समय जो जवाब दिया वह मननीय है। उसने कहा, "आज तो आपके दर्शन भी मिले और मृत्यु भी। आगे जब मृत्यु मिलेगी तब आपका दर्शन मिलेगा यह कौन बता सकता है ? इसलिए मैं अभी मरना ही पसद करता हू। जब आपके दर्शन हो रहे हैं तभी मृत्युका आलिंगन करना मैं अपना भाग्य समझता हू।" इतना कहकर वाली मुक्त होगये। उनकी आत्मा राममय हो गई। चित्तका शोधन करते-करते उच्च अवस्था प्राप्त करनी चाहिए और उसी हालतमे देह छोडनी चाहिए। मेरा विश्वास है कि जमनालालजीको भी ऐसी ही मृत्यु प्राप्त हुई है। इसलिए यह दु खकी बात नही, खुशी और ईर्ष्याकी बात है।

हम उनके अनेक गुणोका वर्णन कर सकते है। उनका सबसे बडा गुण यह था कि सेवा करते समय वह अपनी सेवाका हिसाब तो रखते ही थे, परतु इस सेवाका मापन मुख्यत अपने हृदयकी परीक्षा लेकर ही करते थे। उनका विश्वास था कि जिस सेवाका परिणाम चित्त शुद्धिके रूपमे होता है वही सेवा सच्ची है। जितनी मात्राम यह परिणाम कम दिखाई देगा उतनी ही वह सेवा अधूरी व जिस सेवासे चित्त-शुद्धि बिल्कुल ही नही होती हो वह झूठी। वह हर प्रकारकी सेवाको चित्त शुद्धिकी कसौटीपर कसा करते थे और चित्त-शुद्धिकी कसौटीको ही वह सेवाकी कसौटी मानते थे। मनकी ऐसी पवित्र अवस्थाम जो जीव शरीर छोडकर चला जाता है वह जाता ही नही बल्कि छोटा-सा शरीर त्यागकर समाजरूपी व्यापक देहम प्रवेश करता है। शरीर आत्माके विकासके लिए है, परतु जिनकी आत्मा महान् है उनके विकासके लिए मानव देह छोटा-सा पडता है। एसे समय वह महान् आत्माए कभी कभी अपन दुबल शरीरको छोड जाती है व देहरहित अवस्थाम अधिक सेवा करती है। जमनालालजीकी यही स्थिति है। आपके व हमारे शरीरम उन्होने प्रवेश किया है ऐसा मै तो मानता हू। इसका असर हम सबपर होगा ही, परतु हम अपन हृदयके द्वार खुले रखने चाहिए। एक छोटी-सी मिसाल उनकी पत्नीकी मै दू। वह एक सीधी सादी दवी है, विशेष पढी लिखी भी तो नही है, परतु जमनालालजीकी मृत्युन उन्हे अपना जीवन सेवा कायमे समर्पण करनेकी प्रेरणा दी। अपनी सारी निजी सपत्ति भी देवा कायके ही लिए समर्पण करनेका सकल्प उन्होने किया। जमनालालजीकी मृत्युका यह परिणाम हुआ। सदेह आत्मा जितना असर नही कर पाती उतना या उससे कितना ही अधिक विदह (याना देह बिना) आत्मा न किया। यह एक ऐसी ही मिसाल है। भविष्यम एसे और भी उदाहरण हो सकते है क्योकि महान् विभूतिया देह छोडनपर ही अधिक बलवान बनती है। सतोके उदाहरण हमारे सम्मुख है ही। उनके जीवनकालम समाजने उनका आदर करनेके बजाय छल ही किया। देह जानेके बाद देह बिना रहकर ही वे लोगोके चित्तपर अधिक प्रभावशाली परिणाम अकित कर सके। ऐसे सतोमें छोटा-सा

ही क्यों न हो जमनालालजीका महत्वपूर्ण स्थान है। इसलिए उन्होंने जिस प्रकार अपनी सारी ताकत लगाकर जो सेवा-कार्य किया, उससे भी अधिक शक्तिसे वह कार्य आगे बढ़ाते रहनेकी प्रेरणा ईश-कृपासे हमें मिल सकती है। यह प्रेरणा ग्रहण करनेके लिए हमारे हृदय-द्वार खुले रहे, इतनी ही प्रार्थना परमात्मासे कर मैं अपनी श्रद्धांजलि समाप्त करता हूं।[1]

सर्वोदय : मार्च, १९४२

: १५ :

खादीका समग्र-दर्शन

जेलमें तटस्थ चिंतनके लिए थोड़ा-बहुत अवकाश मिल जाता है। इसलिए हमारे आंदोलनके विषयमें और हिंदुस्तान तथा संसारकी सारी परिस्थितिके विषयमें बहुत-कुछ विचार हुआ, चर्चा भी हुई। कुल मिलाकर परिस्थिति बहुत बिगड़ी हुई मालूम होती थी। ऐसे समय कौन-से उपाय करने चाहिए, इसका चिंतन हम वहां करते थे। लेकिन हमारे जेलसे छूटनेके थोड़े ही दिन बाद जापान और अमेरिकाके लड़ाईमें शामिल हो जानेसे परिस्थिति और भी बिगड़ गई। इसलिए जेलमें किये हुए कुछ विचार अधूरे मालूम हुए और कुछ दृढ़ हुए। इस युद्धके विरोधमें हम प्रायः तीन कारण दिया करते थे। पहला कारण था युद्धकी हिंसकता, दूसरा दोनों पक्षोंकी—चाहे वह न्यूनाधिक भले ही हो—साम्राज्यवादी तृष्णा; और तीसरा यह कि हिंदुस्तानकी सम्मति नहीं ली गई। लेकिन जापान और अमेरिकाके मैदानमें कूद पड़नेके बाद तो अब करीब-करीब सारा संसार ही युद्धमें शामिल हो गया है। अब यह युद्ध मनुष्यके हाथमें नहीं रहा, वरन् मनुष्य ही युद्धके आधीन होगया है। इसलिए यह युद्ध अंधा या मूढ़ है। हमारे युद्धविरोधका यह और

---

[1] श्री जमनालाल बजाजके निधनपर हुई शोक-सभा में (१२ फरवरी, १९४२ को) दिया गया भाषण।

एक नया कारण है। वासुदेव कॉलेज (वर्धा) मे भाषण देते हुए मैने इसीपर जार दिया था।

लेकिन इस प्रकार ससारके सभी बडे राष्ट्रोके युद्धमे शरीक हो जानेसे, हिंदुस्तानकी, जा कि पहलेसे ही एक दरिद्र और विषम परिस्थितिमे ग्रस्त देश है, हालत और भी विषम होगई है। अग्रेजी राजसे पहले हिंदुस्तान स्वावलबी था। इतना ही नही, वह अपनी जरूरते पूरी करके विदेशोको भी थोडा-बहुत माल भेजा करता था। लेकिन आज तो पक्के मालके लिए हिंदुस्तान करीब करीब पूरी तरह परावलबी होगया है। राष्ट्रीय रक्षाके साधन, युद्धविषयक सरजाम, वगैरामे जो परावलबन है, उसकी बात मै नही कहता। हालाकि अगर अहिंसाका रास्ता खुला न हो, तो राष्ट्रीय दृष्टिसे इस बातका विचार भी करना ही पडता है। लेकिन मै तो सिर्फ जीवनोपयोगी नित्य आवश्यकताओकी ही बात कह रहा हू। ये चीजे आज हिंदुस्तानमे नही बनती और फिलहाल ये बाहरसे कम आ सकेगी। लडनेवाले राष्ट्र युद्धोपयोगी सामग्री बनानेकी ही फिक्रमे होगे, उनके पास बाहर भेजनेके लिए बहुत कम माल रहेगा। और इसके बाद भी जो माल तैयार होगा, उसे दूसरे राष्ट्रोतक न पहुचने देनेकी व्यवस्था शत्रुराष्ट्र अवश्य करेगे। अमेरिकासे माल आने लगे, तो जापान उसे डुबो देगा और जापानसे तो माल आ ही नही सकेगा। इस तरह अगर बाहरसे माल आना कम हो गया या बद होगया, तो हिंदुस्तानका हाल बहुत ही बुरा होगा। पक्का माल यहा बनानेके विषयमे सरकार, अगर हेतुपूर्वक नही तो परिस्थितिके कारण उदासीन रहेगी। उसका सारा ध्यान लडाईपर केद्रित है, इसलिए उसे दूसरी गभीर योजनाए नही सूझेगी। गभीरतासे जो-कुछ विचार होगा, वह केवल युद्धके विषयमे ही होगा। अगर सरकारकी यही वृत्ति रही कि हिंदुस्तानका जैसे-तैसे रक्षण—यानी उसे अगरेजोके कब्जेमे बनाये रखना—भर हमारा कर्तव्य है, तो कोई ताज्जुब नही।

ऐसी अवस्थामे हम कार्यकर्ताओपर बहुत बडी जिम्मेदारी आ पडती है। उस दिन दादा धर्माधिकारी मेरे पास आये थे। उनसे मैने अपनी इस

दशाका जिक्र किया था। उसके विषयमें उन्होंने 'सर्वोदय' में एक टिप्पणी लिखी है। यों लोगोंपर यह इलजाम लगाया जाता था कि खादीकी बिक्री काफी नहीं होती, उसके लिए लोगोंकी मिन्नतें करनी पड़ती है। अब हमपर यह इलजाम आनेवाला है कि इस लड़ाईकी परिस्थितिमें लोगोंकी माग हम पूरी नहीं कर सकते। ऐसे सकटके समय अगर हम खादीके कामको तरक्की न दे सके, तो खादीके भविष्यके लिए बहुत कम आशाकी गुजाइश रहेगी।

जाजूजीने 'खादी जगत' द्वारा हाल हीमें एक योजना पेश की है। उसमें उन्होंने यह प्रमाणित किया है कि सरकार बेकारोंको जितने उद्योग दे सकती है, उतने अवश्य दे, लेकिन सरकारकी शक्ति खतम होनेपर भी अगर भूख बाकी रह जाय, तो उतने अशमें खादीको प्रोत्साहन देना सरकारका कर्तव्य है। किसी भी सरकारको खादीका यह कार्यक्षेत्र प्राय: मजूर करना पड़ेगा।

लेकिन इस योजनाका स्वरूप ऐसा है कि मानों जहा हम प्रवेश नही पा सकते, वहा धीरे-से अपनी पोटली रख देते है। हमारे घरपर कब्जा करनेवालेसे हम कहते हैं, "भैया, मकान तेरा ही सही। लेकिन तेरा यह खयाल गलत है कि मकान बिल्कुल भर गया है। वह देखो, उस कोनेमें थोड़ी-सी जगह खाली है। मेरी यह पोटली वहा पड़ी रहने दो।" हमारा यह आक्रमण मनुष्यसे अपेक्षित न्यूनतम सद्गुणोंपर होता है, इसलिए उसका परिणाम अवश्य होता ही है।

परन्तु इस प्रकारकी अकाल-पीड़ित खादी खादीकी बुनियाद नहीं हो सकती। आज जिस तरह खादीका उत्पादन और बिक्री हो रही है, वह भी उसकी बुनियाद नहीं है। खादीकी इमारतका वह एक भाग जरूर है। खादीकी अतिम योजनामें भी उत्पत्ति-बिक्रीका स्थान रहेगा, और आजसे कहीं अधिक रहेगा। लेकिन वह खादीकी सम्पूर्ण योजनाका एक अगमात्र है।

उसी तरह आज जगह-जगह जो वस्त्र-स्वावलबन जारी है उससे, यानी इस गावमें चार वस्त्र-स्वावलबी आदमी है, उस तहसीलमें सौ-दो-सौ है, इस प्रकार दूसरे गावोंमें भी वस्त्र-स्वावलबन शुरू करते रहनेसे, भी हमारा मुख्य काम नहीं होता। यह तो चौराहोंपर जगह-जगह म्युनिसिपैलिटीकी

बत्तिया लगानेके समान है। इन बत्तियोंका भी उपयोग तो है ही। उनके कारण चारो तरफका वातावरण प्रकाशित रहेगा। लेकिन चौकको बत्तिया घरके चिरागोंका काम नही देतीं। इसलिए यह इस तरह बिखरा हुआ वस्त्र-स्वावलबन भी खादीका मुख्य कार्य नही है।

खादीकी नीव तो यह है कि किसान जैसे अपने खेतमें अनाज उपजाता है उसी तरह वह अपना कपडा अपने घरमें बनावे। शायद शुरूसे ही हम इस तरह काम न कर सकते। इसलिए हमने खादीका काम दूसरे ढगसे शुरू किया। लेकिन वह भी अच्छा ही हुआ। इससे खादीको गति मिली और लोगोंको थोडी-बहुत खादी हम दे सके।

लेकिन अब तो लोगोकी खादीकी माग बढेगी। आजके तरीकेसे हम उसे पूरा नहीं कर सकेंगे। ऐसी स्थितिमें अगर हम लाचार होकर चुपचाप बैठे रहेंगे, तो हम दोषी समझे जायगे। और यह दोषारोपण न्यायानुकूल ही होगा। क्योंकि खादीको बीस सालका समय मिल चुका है। हिटलरने बीस वर्षोंमें एक गिरे हुए राष्ट्रको खडा कर दिया। उन्नीस सौ अठारहमें जर्मनीकी पूरी तरह हार हो गई थी और उन्नीस सौ अडतीसमें वह एक आला दर्जेका राष्ट्र बन गया। रूसने भी जो कुछ ताकत कमाई, वह इन बीस वर्षोंमें ही कमाई। इतने समयमें उसने दुनियाको मुग्ध कर देनेवाली विचार और आचारकी एक प्रणालीका निर्माण किया। ये दोनो प्रयोग हिंसामय या हिंसाश्रित है, इसलिए उनकी स्थिरता खतरेमें है, यह बात अलग है। कहा तो यही जायगा कि खादीको भी इसी प्रकार बीस वर्ष तक मौका दिया गया। इतने समयमें खादी अधिक प्रगति नही कर सकी, इसकी कई वजहे है। इसलिए जर्मनी या रूससे तुलना करके हम अपने तई अपना धिक्कार करनेकी जरूरत नही है। फिर भी ऐसे सकटके मौकेपर अगर हम लाचार बन गए, तो, जैसा कि मैं कह चुका हू, खादीके लिए एक कोना दिखाकर उतनेसे सतुष्ट रहना पडेगा। लेकिन यह खादीकी मुख्य दृष्टि—जिसे अहिंसाकी योजनामें करीब करीब केंद्रस्थान है—छोड देनेके समान है। कम-से-कम हिंदुस्तानमें तो खादी और अहिंसाका गठबंधन अटूट समझना चाहिए।

जब लोगोंकी मांग बढ़ेगी तो हम उनसे कहेंगे, 'सूत कातो।' तब लोग कहेंगे, 'हमें पूनियां दो।' हमारे आंदोलनमें पूनियोंकी समस्या बड़ी टेढ़ी है। पूनियोंके बादकी क्रिया अपेक्षाकृत सरल है। लेकिन पूनियोंका सवाल हम शास्त्रीय या लौकिक पद्धतिसे अबतक हल नहीं कर सके हैं। तब, लोगोंसे कहना होगा, 'तुम अपने लिए धुनो।' इसमें तातका सवाल आयगा। पक्की तातकी व्यापक मांग एकदम पूरी नहीं की जा सकती। इसलिए काम रुक जायगा। इसका ज्यों-ज्यों मैं विचार करता हूं त्यों-त्यों मेरी निगाह उस 'दशयंत्र पींजन'पर ठहरती है। पांच और पांच दस अंगुलियोंसे जो काम होता है उसे 'दशयंत्र' कहते हैं। सोम रस दस अंगुलियोंसे निचोड़ा जाता है। इसलिए वेदोंमें 'दशयंत्रा सोमा' का उल्लेख है। उसी तरह यह तुनाईका दशयंत्रपींजन है। वह बहुत लाभदायी और सारी दिक्कतोंसे बचानेवाला साबित होगा। रबर लगानेके नए तरीकेकी खोजने इस दशयंत्र-पींजनमें क्रांति कर दी है। उसके कारण यह काम आसान हो गया है। यह बात सच है कि रबर सर्वसुलभ नहीं है। लेकिन उसका भी विचार हो सकता है। और वह भी इस कामके लिए अनिवार्य तो नहीं है। उस दिन मैं खरागना गया था। वहां मैंने इस दशयंत्र-पींजनका प्रदर्शन किया। दर्शकोंमेंसे एकने कहा, 'जरा मैं भी देखूं।' और देखते-देखते उसने पंद्रह-बीस मिनिटोंमें, अगर अच्छी नहीं तो, साधारण पूनी बना ली। इसे सीखना इतना आसान है। उसकी गति भी व्यवहार-सुलभ है। इस संबंधके कुछ आंकड़े वल्लभभाई (भगवानजी) ने अपने एक लेखमें दिये हैं। नागपुर-जेलमें मैंने जो प्रयोग किये उनके आधारपर मैंने भी जेलसे ही एक लेख भेजा था। रामदासजी गुलाटीको जब तुनाई करके दिखाई गई, तब वह कहने लगे कि मिलकी पूनीके लगभग सभी गुण इस पूनीमें हैं और वैज्ञानिक दृष्टिसे यह पूनी करीब-करीब निर्दोष है। इस दशयंत्र-पींजनका सर्वत्र प्रचार करनेके लिए ग्रामसेवा-मंडलमें और अधिक शोध और प्रयोग होने चाहिए।

दूसरी महत्त्वकी बात यह है कि बुनकर खुद कातकर उसी सूतकी खादी बुनें। इसकी तरफ बापूजीने सबका ध्यान दिलाया है। हिंदुस्तानमें बुनकरों-

का बहुत बड़ा वर्ग है। लड़ाईके समय उनके लिए कोई इंतजाम नहीं हो सकेगा। इसलिए उन्हें भी इस खादीके काममें लगाना चाहिए। मैं कई तरहके आंकड़ोंपर-से इस परिणामपर पहुंचा हूं कि आज दूसरेका काता हुआ भला-बुरा सूत बुननेके लिए बुनकर जो मजदूरी पाता है, उससे कम मजदूरी उसे अपना सूत बुननेमें नहीं मिलेगी। अपना सूत बुनना उसके लिए अधिक आसान तो हाल ही वाला है। इस विषयमें भी व्यापक प्रयोगकी आवश्यकता है।

इसीके साथ-साथ वस्त्र स्वावलंबी लोगोंका सूत जहांका वहीं बुनवानेका प्रबंध करना होगा। इसके लिए स्वावलंबी व्यक्तियोंके सूतमें उन्नति होना जरूरी है। सूतमें उन्नतिकी बात आते ही फिर 'दशयंत्र-पीजनपर' ही ध्यान जाता है। साधारण 'धनु-पीजन' वैसे उपयोगी भले ही मान लिया जाय, तो भी लड़ाईके जमानेकी व्यापक योजनामें वह निरुपयोगी है। मेरा यह दावा है कि उस यंत्रसे उतनी शास्त्रीय पूनी नहीं बनती, जितनी इस दशयंत्रसे बनती है।

परंतु इसमें यह मानी हुई बात है कि यह दशयंत्र-पीजन या तुनाई कपास से ही होनी चाहिए। आज सब जगह प्राय सारी क्रियाओंमें रूई ही काममें लाई जाती है। अब रूईकी जगह कपासका उपयोग करना चाहिए। किसानको अपने खेतमेंसे अच्छी बड़ी-बड़ी डोडीवाली कपासका संचय करना चाहिए। फिर उसे सलाई-पटरी जैसे साधनसे ओट लेना चाहिए। इसमें प्राय एक भी बिनौला नहीं बिगड़ेगा। किसान छांट-छांटकर अच्छी-अच्छी डोडिया बोनेगा। इसलिए उसे अच्छा बीज मिलेगा और उसका खेत समृद्ध होगा। इस प्रकार कपाससे शुरू करनेमें अनेक लाभ है। रूईसे शुरू करनेमें हम उन्हें गवा देते है।

खादीका अर्थ शास्त्र सचमुच इतनी पुख्ता नींवपर खड़ा है कि उससे सस्ता और कुछ भी नहीं सिद्ध हो सकता। लेकिन उसकी जगह बीचकी ही किसी अलग प्रक्रियाको खादीकी प्रक्रिया मान लेना खादीको नाहक बदनाम करना है।

कार्यकर्ताओंको समग्र-दर्शनके इस विचारपर अच्छी तरह ध्यान देना चाहिए। कहा जाता है कि मिलें सस्ती पडती है। हम हिसाब करके दिखा देते हैं कि वे महगी है। मिलोंमे व्यवस्थापक वर्गका जबरदस्त खर्च, यत्र, यत्रोंका घिसना, मालका लाना-लेजाना, मालिकोंका अजस्र मुनाफा, आदि कई आपत्तिया स्पष्ट ही है। लेकिन फिर भी अगर मिल सस्ती मालूम होती हैं, तो, या तो उसमे कोई जादू होना चाहिए या फिर हमारे एतराज गलत होने चाहिए। एतराज तो गलत नहीं कहे जा सकते। तो फिर अवश्य तिलस्म है। वह जादू यह है कि मिल एक विराट् यात्रिक रचनाकी जजीरकी एक कडी है। बडे कारखानोंमे मुख्य उद्योगके साथ-साथ उससे सबध रखनेवाले दूसरे भी फटकर उद्योग कराये जाते है। कारखाना उन उद्योगोंके लिए नहीं चलता। इसलिए उन्हे गौण पैदावार कहते है। इन गौण उद्योगोंसे जो आमदनी होती है उससे प्रधान उद्योगको लाभ होता है और यह सब मिला वह कारखाना आर्थिक दृष्टिसे पुसाता है। मिलकी यही स्थिति है। वह एक समग्र विचार-श्रृखलाकी कडी है।

मिलोके साथ-साथ रेल आई। यात्रिके समय माल लाना-लेजाना उनका प्रधान कार्य है। यात्रियोंको भी उनसे लाभ होता है। लोगोंको लबे सफर करनेकी आदत हो जाती है। उनके विवाह-सबध भी दूर-दूरके स्थानोंमे होने लगते है और इस तरह रेल उनके जीवनकी एक आवश्यकता हो जाती है। फिर उससे फायदा उठाकर मिलोंके विषयमे सस्तेपनका एक भ्रम पैदा किया जा सकता है।

मैंने रेलका उदाहरण दिया। ऐसी कई चीजे मिलकी मददके लिए उपस्थित है। इसलिए मिल सस्ती प्रतीत होती है। अगर सिर्फ मिलका ही विचार किया जाय, तो वह बहुत महगी होती है। यही नियम खादीके लिए भी लागू करना चाहिए। अगर अकेली खादीका ही विचार किया जाय, तो वह महगी मालूम होगी। लेकिन ऐसा असबद्ध विचार नही किया जा सकता। किसी सुदर आदमीके अवयव अलग-अलग काटकर अगर हम देखने लगे, तो क्या होगा ? कटी हुई नाक खूबसूरत थोडे ही लगेगी ? उसमें तो आरपार छेद

दिखाई दगे। लेकिन ऐसे पृथक् किये हुए अवयव अपनेमें सुदर न होते हुए भी, सब मिलकर शरीरको सुदर बनाते हैं। जब हम समग्र जीवनको दृष्टिमें रखकर खादीको उसका एक अग मानेगे, तब खादीजीवन मिलजीवनकी अपेक्षा कही सस्ता साबित होगा।

खादीमे लाने-ले जानेका सवाल ही नही है। वह तो जहाकी वही होती है। घरको घर हीमे व्यवस्थितरूपसे रहती है। याने व्यवस्थापकोका काम नहीं रह जाता। कपडेकी जरूरतसे ज्यादा कपास फिजूल बोई ही नही जायगी इसलिए कपासका भाव हमारे हाथोमें रहेगा। चुनी हुई डोडिया घरपर ही ओटी जायगी, जिससे बोनेके लिए बढिया बिनौले मिलेंगे और खेती विशेष सपन्न और प्रफुल्लित होगी। बचे हुए बिनौले बेचने नही पडेंगे। वे सीधे गायको मिलेंगे और फलस्वरूप अच्छा दूध, घी और बैल मिलेंगे। वस्त्र-स्वावलबनके लिए आवश्यक डोडिया, सलाई-पटरी या उसीकी विशेषताए रखनेवाली ओटनीपर ओट ली जायगी। वह ताती साफ रुई आसानीसे धुनी जा सकेगी। वह दडयत्रसे भलीभाति धुनी जायगी और सूत समान तथा मजबूत कत सकेगा। सूत अच्छा होनेके कारण बुननेमे सुगमता होगी। अच्छी बुनावटके कारण वह शरीरपर ज्यादा दिन टिकेगा और कपडा ज्यादा दिन चलनेके कारण उतने अशमे कपासकी खेतीवाली जमीनकी बचत होगी। अब इस सबमें तेलकी घानी आदि ग्रामोद्योग और जोड दीजिए और देखिए कि वह सस्ती पडती है कि महगी। आप पायगे कि वह बिल्कुल महगी नहीं पडती। जब खादीका यह 'समग्र दर्शन' आपकी आखोमे समा जायगा, तो खादीकार्यका आरभ कपासकी बजाय रुईसे करनेमे कितनी भारी भूल होती है, यह भी समझमें आ जायगा। और इसके अतिरिक्त सारा खादीकार्य सागोपाग करनेकी दृष्टि भी प्राप्त होगी।

और एक बात, जिससे समग्र दर्शन और स्पष्ट होगा। यह एक स्वतत्र विषय भी है। पाच-छ साल पहले मैं रेलमें अपना चर्खा खोलकर कातने लगा। वैसे भी मेरी आखे कमजोर हैं, उसमे फिर गाडीके धक्के लगते थे, इसलिए धीरे-धीरे सम्हलकर कातनेपर भी थोडा-बहुत टूटता ही था।

टूटते ही मैं अपने सिद्धांतके अनुसार उसे फिर जोड़ लेता था। मेरी बगलमें एक सज्जन बैठे थे। बी० एस-सी० पास थे। बड़े ध्यानसे ये सारी बातें निहार रहे थे। थोड़ी देरके बाद बोले, "कुछ पूछना चाहता हूं।" "पूछिए", मैंने कहा। वह बोले, "आप टूटे हुए तारोंको जोड़नेमें इतना वक्त खोते हैं, इससे उनको वैसे ही फेंक देना क्या आर्थिक दृष्टिसे लाभकारी नहीं होगा?" मैंने उनसे कहा, "अर्थशास्त्र दो तरहका है। एक आंशिक अथवा एकांगी और दूसरा परिपूर्ण। इनमेंसे एकांगी अर्थशास्त्रको छोड़कर परिपूर्ण अर्थशास्त्रकी कसौटीपर परखना ही उचित है।" वह बोले, "दुरुस्त है।" तब मैंने उनसे पूछा, "आप कहते हैं कि थोड़ा-सा टूटा हुआ सूत अगर अकारथ जाय तो कोई हर्ज नहीं। लेकिन उसकी क्या मर्यादा हो? कितना फीसदी आप माफ फरमायेंगे?" उन्होंने कहा, 'पांच प्रतिशत तक माफ कर देनेमें हर्ज नहीं है।" तब मैंने कहा, "पांच प्रतिशत सूत, जो कि जुड़ सकता है, फेंक देनेका क्या नतीजा होता है, यह देखने लायक है। इसका यह मतलब है कि कातनेवाला इस तरहसौ एकड़ कपास की खेतीमेंसे बैठे-बैठे पांच एकड़की उपज योंही फेंक देता है। तातके सौ कारखानोमेंसे पांच कारखानोंको बेकार कर देता है। कातनेवालोंके लिए बनाई गई सौ इमारतोंमेंसे पांच गिरा देता है। हिसाबकी सौ बहियोंमेंसे पांच फाड़ देता है। ' इत्यादि इत्यादि।

इसके अलावा, जिसने पांच प्रतिशतका न्याय स्वीकार कर लिया, उसके सभी व्यवहारोंको वह ग्रास कर लेगा। उससे होनेवाली हानि कितनी भयानक होगी, यह समझना मुश्किल नहीं है। भोजनके वक्त अगर कोई थालीमें बहुत-सी जूठन छोड़कर उठ जाता है, तो हम उसे मस्ताया हुआ कहते हैं। क्योंकि जूठन छोड़नेका यह मतलब है कि वह, किसानके बैलसे लेकर रसोई बनानेवाली मां तक, सबकी मेहनतपर पानी फेर देता है इसलिए जूठन छोड़नेसे मांका नाराज होना काफी नहीं है। हल चलानेवाले बैलको चाहिए वह उसे एक लात मारे और किसानसे लेकर दूसरे सब एक एक धौल जमाये।

इसीलिए हर चीज समग्रताकी दृष्टिसे देखनी चाहिए। इसीलिए

भगवद्गीतामें ईश्वरके ज्ञानके पीछे "असशय समग्रम्" ये विशेषण लगाये गए हैं। हमारे खादीके आंदोलनमें समग्र-दर्शनकी बहुत जरूरत है। हम जब खादीको समग्र-दर्शनपूर्वक आगे बढायगे, तभी, और केवल तभी, वह व्यापक हो सकेगी। यह हमारी कसौटीका समय है।[1]

ग्राम-सेवा-वृत्तसे सर्वोदय, अप्रैल, १९४२

: १६ :

उद्योगमें ज्ञान-दृष्टि

कलके भाषणमें मैंने सर्वजनोके लिए जो कुछ मुझे कहना था, सो कहा। आज मेरे सामने विशेषकर स्कूलके लडके और शिक्षक हैं। उन्हीके लिए कुछ कहूगा।

मेरी दृष्टिसे हमारे शिक्षणमें सबसे बडी जरूरत अगर किसी चीजकी है तो विज्ञानकी। हिंदुस्तान कृषिप्रधान देश भले ही कहलाता हो, तो भी उसका उद्धार सिर्फ खेतीके भरोसे नहीं होगा। यूरोपीय राष्ट्र उद्योग-प्रधान कहलाते हैं। हिंदुस्तानमें खेती ही प्रधान व्यवसाय होते हुए भी यहा फी आदमी सवा एकड जमीन है। इसके विपरीत फ्रासमें, जो एक उद्योग-प्रधान देश कहलाता है, प्रति मनुष्य साढे तीन एकड जमीन है। इसपरसे मालूम होगा कि हिंदुस्तानकी हालत कितनी बुरी है। इसका मतलब यह है कि हिंदुस्तानमें अकेली खेती ही होती है, और कुछ नहीं होता। अमेरिका (सयुक्त राज्य) ससारका सबसे सधन देश है। उसमे खेती और उद्योग दोनो बहुत बडे परिमाणमें चलते हैं। वह युद्धके लिए रोज पचपन करोड रुपये खर्च कर रहा है। हमारे देशकी जनसख्या चालीस करोड है। इतने लोगोको हर रोज भोजन देनेके लिए, यहाके हिसाबसे प्रतिदिन पाच करोड रुपया खर्च लगेगा।

---

[1]. ग्राम-सेवा-मंडलकी सर्वसाधारण सभामें (९ जनवरी, १९४२ को) दिया गया भाषण।

अमेरिका इतना धनवान देश है कि वह रोज जितना खर्च करता है, उसमें हिंदुस्तानको ग्यारह दिन भोजन दिया जा सकता है। हिंदुस्तानकी फी आदमी सालाना आमदनी खेतीसे पचास-साठ रुपये और उद्योगसे बारह रुपये है। इसलिए हिंदुस्तानको कृषिप्रधान कहना पड़ता है। अब जरा इंग्लैण्डकी तरफ नजर डालिए। वहां भी खेतीकी आमदनी, यहांकी ही तरह फी आदमी पचास-साठ रुपये सालाना होती है, और उद्योगकी होती है पांचसौ बारह रुपये। इसपरसे आपको पता चलेगा कि हमारा देश कहां है। यह हालत बदल देनेके लिए हमारे यहांके विद्यार्थी, शिक्षक और जनता, सभीको उद्योगमें निपुण बन जाना चाहिए। उसके लिए उन्हें विज्ञान सीखना चाहिए।

(अ) हमारा रसोईघर हमारी प्रयोगशाला होना चाहिए। वहां जो आदमी काम करता हो, उसे किस खाद्य पदार्थमें कितना उष्णांक, कितना ओज, कितना स्नेह है, आदि सारी बातोंकी जानकारी होनी चाहिए। उसमें यह हिसाब करनेकी सामर्थ्य होनी चाहिए कि किस उम्रके मनुष्यको किस कामके लिए कैसे आहारकी जरूरत होगी।

(आ) शौचको तो सभी जानते हैं। लेकिन स्कूलवालोंका काम इतनेसे नहीं चलेगा। 'मैलेका क्या उपयोग होता है ? सूर्यकी किरणोंका उसपर क्या असर होता है ? मैला अगर खुला पड़ा रहे तो उससे क्या नुकसान है ? कौन-सी बीमारियां पैदा होती हैं ? जमीनको अगर उसका खाद दिया जाय, तो उसकी उर्वरता कितनी बढ़ती है ?'—आदि सारी बातोंका शास्त्रीय ज्ञान हम हासिल करना चाहिए।

(इ) कोई लड़का बीमार हो जाता है। वह क्यों बीमार हुआ ? बीमारी मुफ्तमें थोड़े ही आई है ? तुमने उसे गिरहसे कुछ खर्च करके बुलाया है। अतिथिकी तरह उसका खयाल रखना चाहिए। वह क्यों आई, कैसे आई, आदि पूछना चाहिए। उसकी उपयुक्त पूजा और उपचार कैसे किया जाय, यह सीखना चाहिए। जब वह आ ही गई है, तब उससे सारा ज्ञान ग्रहण कर लेना चाहिए। इसमें शिक्षणकी बात है। 'वह ज्ञानदाता रोग

भाषाकी जरूरत होती है। उसका उतना ही ज्ञान आवश्यक है। भाषा चिट्ठीरसाका काम करती है। अगर मैं चिट्ठीमें कुछ भी न लिखूं, तो वह कोरा कागज भी चिट्ठीरसा पहुंचा देगा। भाषा विद्याका वाहन है। यह भी कोई कम कीमती बात नहीं है। विज्ञान और आध्यात्म ही विद्या है। उसीका मैं विचार करूंगा। मेरा चरखा अगर टूट गया, तो क्या मैं रोता बैठूंगा? मैं बढ़ईके पास जाकर उसे सुधरवा लूंगा। उसी तरह, अगर मुझे बिच्छूने काट खाया, तो मुझे रोते नहीं बैठना चाहिए। उसका उपचार करके छुट्टी पानी चाहिए। इसी प्रकार आत्माकी अलिप्तताका ज्ञान होना चाहिए। उसकी मुझे आदत हो जानी चाहिए। यही मेरी शालाकी परीक्षा होगी। मैं भाषाका पर्चा निकालनेकी झंझटमें नहीं पड़ूंगा। लड़कोंकी बोलचालसे ही मैं उनका भाषा ज्ञान भांप जाऊंगा।

विद्यार्थी भोजन करते हैं और दूसरे लोग भी भोजन करते हैं। लेकिन दोनोंके भोजन करनेमें फर्क है। विद्यार्थियोंका भोजन ज्ञानमय होना चाहिए। जब विद्यार्थी अनाज पीसेगा और छानेगा, तो वह देखेगा कि उसमेंसे कितना चोकर निकलता है। मान लीजिए कि सेरमें आठ तोले चोकर निकला। यानी दस प्रतिशत चोकर निकला। यह बहुत ज्यादा हुआ। दूसरे दिन वह पड़ोसीके यहां जाकर वहांका चोकर तौलेगा। वह देखता है कि उसके आटेमेंसे ढाई तोले ही चोकर निकला है। दस प्रतिशत चोकर निकलनेमें क्या हर्ज है? उतना चोकर अगर पेटमें जाय, तो नुकसान क्या होगा?— आदि प्रश्न उसके मनमें उठने चाहिए और उनके उचित उत्तर भी उसे मिलने चाहिए। जब ऐसा होगा, तो जैसा कि गीतामें कहा है, उसका हरएक काम ज्ञान-साधन होगा। अगर बुखार आया, तो वह ज्ञान दे जायगा। वह भी प्रयोग ही होगा। फिर उस तरहका बुखार नहीं आयगा। जहां हरएक काम इस तरह ज्ञान-दृष्टिसे किया जाता है वह पाठशाला है और जहां वही ज्ञान कर्म-दृष्टिसे होता है वह कारखाना है।

इस प्रकार प्रयोगबुद्धिसे, ज्ञानदृष्टिसे प्रत्येक काम करनेमें थोड़ा खर्च तो होगा। लेकिन उसमें उतनी कमाई भी होगी। स्कूलमें जो चरखा होगा

वह बढिया ही होगा। चाहे जैसे जल्दमें काम नहीं चलेगा। स्कूलमें काम चाहे थोडा कम भले ही हो, लेकिन जो कुछ काम होगा, वह आदर्श होगा। कपास तौलकर ली जायगी। उसमें जितने बिनौले निकलेंगे, वे भी तौले जायेंगे। गणितशास्त्र जब इतने बिनौले निकले, तब हर मनमें इतने क्या, इस तरहका सवाल पूछा जायगा। और उसका जवाब भी दिया जायगा। बिनौले मटरके आकारका होकर भी दोनोंके वजनमें इतना फर्क क्यों? बिनौलेमें तेल होता है, इसलिए वह हल्का होता है। फिर यह देखा जायगा कि इसी तरहके दूसरे धान्य कौन-से हैं। इसके लिए तराजूकी जरूरत होगी। यह बाजारमें नहीं खरीदा जायगा। स्कूलमें ही बनाया जायगा। जब हम यह सब करनेका विचार करेंगे, तभीसे विज्ञान शुरू हो जायगा। हरएक काम अगर इस ढंगसे किया जाय, तो वह कितना मनोरंजक होगा? फिर उसे कौन भूलेगा? अकबर किस सनमें मरा, यह रटनेकी क्या जरूरत है? वह तो मर गया, लेकिन हमारी छातीपर क्या सवार हुआ? मैं इतिहास रटनेको नहीं पैदा हुआ हूं। मैं तो इतिहास बनानेके लिए पैदा हुआ हूं।

शिक्षककी दृष्टिसे हरएक चीज ज्ञान देनेवाली है। उदाहरणके लिए, मैलेकी ही बात ले लीजिए। वह बहुत बडा शिक्षण देता है। मैंने तो उसके बारेमें एक श्लोक ही बना डाला है "प्रभाते मलदर्शनम्" (सवेरे मैलेका दर्शन करो)। सबेरे मैलेके दर्शनमें मनुष्यको अपने स्वास्थ्यकी स्थितिका पता चलता है। मैलेमें अगर मूंगफलीके टुकडे हों, तो वे पेटपर पिछले दिन किए हुए अत्याचार तथा अपचनका ज्ञान और भान करायेंगे। उसके अनुसार हम अपने आहार विहारमें फर्क करने लगेंगे। आप चाहे कितनी ही सावधानी और सफाईसे रहिए आखिर मैला तो गंदा ही रहेगा। सबेरे उसके अवलोकनसे देहासक्ति कम होगी और वैराग्य पैदा होगा। मां जाडोंमें जिस तरह बच्चोंको कपडेसे ढकती है, उसका कोई भी अंग खुला नहीं रहने देती, उसी तरह हम भी बडी सावधानीसे सूखी मिट्टीसे अगर मैलेको ढक दें और यथासमय उसे खेतमें फैला दें, तो वही मैला हमारी लक्ष्मीको बढ़ायेगा।

इसी तरह पाठशालामें प्रत्येक काम ज्ञानदायी और व्यवस्थित होगा। लड़का बैठेगा, तो सीधा बैठेगा। अगर मकानका मुख्य खंभा ही झुक जाय, तो क्या वह मकान खड़ा रह सकेगा? नहीं। उसी तरह हमें भी अपने मेरुदण्डको हमेशा सीधा रखना चाहिए। पाठशालामें यदि इस प्रकारसे काम होगा, तो देखते-देखते राष्ट्रकी कायापलट हो जायगी। उसका दुःख-दैन्य गायब हो जायगा, सर्वत्र ज्ञानकी प्रभा फैलेगी।

स्कूलमें होनेवाला प्रत्येक काम ज्ञानका साधन बन जाना चाहिए। इसके लिए स्कूलोंको सजाना होगा। अच्छे-अच्छे साधन जुटाने होंगे। श्रीरामदास स्वामीने कहा है, "देवताका वैभव बढ़ाओ।' लोगोंको अपने घर सजानेके बदले शालाएं सजानेका शौक होना चाहिए। उन्हें शालाकी आवश्यक चीजें उपलब्ध करा देनी चाहिए। लेकिन इतना ही बस नहीं है। एकाध दानवीर मिल जाता है और कहता है, 'मैंने इस शालाको इतनी सहायता दी।' लेकिन अपने लड़कोंको किस स्कूलमें भेजता है?— सरकारी स्कूलमें। सो क्यों? अगर आप राष्ट्रीय पाठशालाओंको दानके योग्य मानते हैं, तो उन्हें सब तरहसे सघन और सुशोभित करके अपने लड़कोंको वहीं क्यों नहीं भेजते?

करना कहातक शोभा देगा ? लड़कोंको दूध मिलना ही चाहिए। उन्हें अच्छा अन्न मिलना ही चाहिए। वरना उनमें तेज नहीं पैदा होगा।

मैंने कुछ बातें शिक्षकोंके लिए, कुछ छात्रोंके लिए और कुछ औरोंके लिए कही हैं। ये सब मेरे अनुभवकी बातें हैं। आशा है कि उनका उचित उपयोग होगा।[1]

ग्राम-सेवा-वृत्तसे सर्वोदय, मई १९४२

: १७ :

ग्राम-सेवाका तंत्र

मैंने आज मुख्यतः मगनवाड़ीके विद्यार्थियोंके दर्शनके लोभसे यहां आना स्वीकार किया। मैं प्रमाणपत्र देने आया ही नहीं हूं। क्योंकि प्रमाणपत्रमें मुझे *श्रद्धा नहीं है। जिन विषयोंमें मुझे प्रमाणपत्र मिले, उन विषयोंका मेरा* ज्ञान नहींके बराबर है और जिन विषयोंमें मैंने परीक्षा ही नहीं दी, उनका मुझे अच्छा ज्ञान है। लेकिन यहां दिये गये प्रमाणपत्र परीक्षाके नहीं हैं; इसलिए मैं आशा करता हूं कि वे निरर्थक नहीं ठहरेंगे।

यहांसे विद्यार्थी देहात जायंगे। उन्होंने देहातकी सेवाके लिए ही शिक्षण पाया है। इस समय देहातमें कार्य करनेकी काफी गुंजाइश है। और मैं समझता हूं कि आप सब लोग गांवोंमें जाकर किसी-न-किसी उद्योगका शुरू करेंगे। लेकिन आपको वहां बहुत सावधानीसे रहना होगा। देहातियोंके जीवनका मान (दर्जा) बहुत कुछ नीचा है। लेकिन उनका सेवाका मान बहुत ऊंचा है। इसलिए आजतक केवल सतानेके ही देहातकी सेवा की है। दूसरोंने तो उन्हें अपने फायदेके लिए चूसा है। इसलिए वहां सेवाका प्रमाण-पत्र आसानीसे नहीं मिलता। वहां हम रातदिन अतंद्रित रहकर काम करना होगा। देहातके लोग अपढ़ हैं, इसलिए हम यह न समझना चाहिए

[1]. तुमसरकी 'तिलक राष्ट्रीय शाला' के विद्यार्थियों और गांवके सज्जनोंकी सभामें (१४ फरवरी, १९४२ को) किया प्रवचन।

कि हमारी अल्पस्वल्प विद्यासे काम चल जायगा। यह सही है कि देहातियोंमें इल्म और हुनरकी कमी है। लेकिन वे अपने कामसे वाकिफ हैं। जो काम करते हैं, सो ठीक-ठीक करते हैं। उदाहरणके लिए खेतीके कामको ही ले लीजिए। उस उद्योगमें वे काफी होशियार होते हैं। इसलिए यह नहीं समझना चाहिए कि हमारे अधकचरे ज्ञानसे काम चल जायगा। हमारे ज्ञानकी कसौटी होगी। इसलिए हमें अतंद्रित रहना होगा। यह कहनेका रिवाज-सा पड गया है कि देहाती लोग आलसी होते हैं। यह आक्षेप बिल्कुल ही बेबुनियाद हो, सो बात नहीं। लेकिन बहुत बडे अंशमें वह दंतकथा ही है। शहरोंकी तरह देहातोंमें भी कुछ लोग निठल्ले होते हैं। लेकिन जिस कामको वे करते हैं, उसे इतना करते हैं कि उससे अधिककी अपेक्षा नहीं की जा सकती। ऐसी स्थितिमें देहातमें अगर हमारी उद्योगशीलता अपर्याप्त साबित हुई, तो हम परीक्षामें फेल हुए समझना चाहिए।

जब हम देहातमें जायेंगे, तो हमारे सामने एक विराट् जगत खुलेगा। कई स्त्री-पुरुषोंसे संपर्क होगा। हमारा ध्यान अचूक उनके गुणोंकी तरफ ही जाना चाहिए। दोषोंकी तरफ प्रवृत्ति हरगिज नहीं होनी चाहिए। मैं मनुष्यके चित्तको घरकी उपमा दिया करता हूं। घरमें दीवारें होती हैं। और दरवाजे होते हैं। मनुष्यके गुण उसके चित्तके दरवाजे हैं और दोष दीवारें। बिल्कुल गरीब-से-गरीबके मकानमें भी एकाध दरवाजा तो होता ही है। गुणके दरवाजेमेंसे ही मनुष्यके चित्तमें प्रवेश करना चाहिए। दरवाजेंमेंसे अंदर जाना सरल है। दीवारमेंसे घुसनेकी कोशिश की जाय, तो सिर फूटेगा। दोषोंमेंसे जो किसीके चित्तमें प्रवेश करनेकी चेष्टा करेगा, उसकी यही हालत होगी। इसलिए गुणग्राहक वृत्ति होनी चाहिए। दर-असल हमें सभी स्त्री-पुरुषोंमें भगवानकी मूर्तियां दिखाई देनी चाहिए। जब ऐसा होगा, तब हमारा काम सुकर होगा।

हम संसारमें नाना वादोंकी चर्चा सुनते हैं। अनेक पक्ष देखते हैं। लेकिन सेवकोंको सभी वादों और पक्षोंसे अलग रहना चाहिए। हमारे लिए सारे संसारमें दो ही पक्ष हैं। एक सेवक और दूसरा सेव्य या स्वामी।

हम शुद्ध सेवक हैं और दूसरे सब स्वामी। हमें स्वामीकी सेवामें ही संतोष मानना है। यही सेवाका धर्म है। सेवकको दलबंदियोंसे क्या मतलब? देहातमें गुटबंदियां भरपूर होती हैं। यह भी नहीं कि उनके पीछे कोई सिद्धांत होता हो। प्रायः द्वेष और स्वार्थ होता है। सेवकको इस तरहके किसी भी दलमें नहीं पड़ना चाहिए। उसे निष्पक्ष रहकर सेवा करनी चाहिए। सेवा करना ही उसका काम है। हमारी सेवासे कौन खुश होता है और कौन नाराज, इसमें हमें क्या करना है? हृदयस्थ भगवान् प्रसन्न हों, इतना काफी है।

उद्योग और विद्या अलग-अलग नहीं हैं। जहां इन्हें अलग कर दिया जाता है, वहां दोनों बेकार हो जाते हैं। विद्याको अगर सिर कहा जाय, तो उद्योग उसका धड़ कहलायगा। दोनोंको अलग करना, दोनोंको मार डालना है। अर्थात् राहूके जैसी हालत होगी। लेकिन यहां तुम्हें विद्या और उद्योगका लाभ एकत्र हुआ है। तुम्हें उद्योगके साथ-साथ ही विद्या दी गई है। अतः तुम्हारी विद्या वीर्यहीन नहीं होगी। तो भी अब देहातमें जानेपर तुम्हें कई भिन्न-भिन्न काम करने पड़ेंगे। प्रबंध देखना, हिसाब लिखना, पढ़ाना, प्रसंगवश व्याख्यान देना, आदि कई बातें ग्राम-सेवाके सिलसिलेमें करनी ही पड़ती हैं। लेकिन मैं कहूंगा कि इन सब कामोंको करते हुए भी तुम्हें रोज कुछ समय प्रत्यक्ष उद्योगमें बिताना चाहिए। इससे तुम्हारी विद्या ताजी रहेगी, तुम्हें नए-नए शोधोंका ज्ञान रहेगा और नए शोध सूझते रहेंगे। कई बार ऐसा पाया जाता है कि अच्छे अच्छे उद्योगमें निपुण लोग भी जब सेवा-कार्य करने लगते हैं, तो शरीरश्रम करना भूल जाते हैं। कहते हैं, *'वक्त नहीं मिलता।'* लेकिन इससे कार्यकर्ताओंकी तथा उनके कार्यकी हानि ही हुई दिखाई देती है। उद्योगसे नित्य परिचय न रहनेके कारण ज्ञान पिछड़ जाता है। फिर पुराने ज्ञानकी पूंजीसे ही काम चलाया जाता है। यह ठीक नहीं है। इसलिए ग्राम सेवकको प्रतिदिन कुछ समय—मेरे विचारमें, अगर संभव हो तो आधा समय—उद्योगके लिए देना चाहिए। उसे ग्रामसेवाका अंग ही समझना चाहिए।

आप देहातोमे जायगे लेकिन वहाकी जमीन कडी होती है। यहा सस्थामें तुम्हारे लिए सारी सुभीतेकी चीजे मौजूद हैं। देहातोमें सब असुविधाए मौजूद होगी। पच्चर टूट गई बढईगीरी आती नही, बढई मिलता नही, कोल्हू रुका पडा है—ऐसी अवस्थामे हिम्मत नही हारनी चाहिए। धीरज रखना चाहिए। *छोटी-से-छोटी बातका पूरा-पूरा ध्यान होना चाहिए।* बल्कि छोटी चीजोको अधिक महत्व देना चाहिए। बडी बातें सहसा कोई भूलता ही नही; क्योकि वे बडी ठहरी। इसलिए छोटी मालूम पडनेवाली बातोपर ही अधिक ध्यान देना चाहिए। अन्यथा उनके ज्ञानके अभावमे कही गाडी न रुक जाय। बुनाईमे खासी निपुणता प्राप्त करके एक आदमी देहातमे करघा लगाकर बैठा। लेकिन वह बुननेमें निपुण होते हुए भी करघा जमाना भली-भाति नही जानता था। इसलिए उसके करघेपर कपडा, जितना चाहिए, उतना अच्छा नही बुना जा सकता था। जो कोई उस करघेपर कपडा बुनने जाता, उसका कपडा बिगड जाता। यह किस बातका नतीजा था? करघा जमाना एक तुच्छ बात है, ऐसा समझकर उसपर ध्यान न देनेका?

मुझे जो कुछ कहना था, मैंने थोडेमे कहा है। तुम्हें आज यहा सस्थाकी तरफसे प्रमाणपत्र तो मिले हैं, लेकिन सच्चे प्रमाणपत्र जनतासे ही प्राप्त करने हैं और वे तुम्हे सच्ची सेवाके गुणके लिए ही मिलेंगे।

अतमें आशा करता हू कि आपलोग देहातोमे जाकर जनताकी भली-भाति सेवा करके वास्तविक प्रमाणपत्रोंके अधिकारी बनेंगे।[1]

ग्राम-सेवा-वृत्तसेः सर्वोदय, जून, १९४२

---

[1]. मगनवाडी (वर्धा) में ग्राम-सेवक-विद्यालयके पदवीदान समारंभके अवसरपर (२९ अप्रैल, १९४२ को) अध्यक्ष-पदसे दिया गया भाषण।

: १८ :

कृपया तशरीफ ले जाइए

मेरा आज व्याख्यान देनेके लिए आनेका इरादा नहीं था। जो भाई पहले मुझे बुलाने आये थे, उनको लौटा भी दिया था। उन्होंने कहा कि फलाने बड़े सज्जनने आकर हमें समझाया है, तुम भी आओ। लेकिन मैंने सोचा, जब इतने सज्जन पहले ही आ चुके हैं और आ रहे हैं, तो मेरे जानेकी जरूरत नही। यानी जो कारण ये भाई मेरे यहा आनेके लिए बतला रहे थे, वही मेरी दृष्टिमें न आनेके लिए अच्छा कारण था। लेकिन गोपालरावने बहुत आग्रह किया, इसलिए आना पडा।

मेरा न आनेका दूसरा भी कारण था। आजकल जितने मुह उतने विचार बोले जाते हैं। मतभेदोंका बाजार-सा लग रहा है। इस हालतमें मैंने सोचा कि जब इतने आदमी आपको अपनी-अपनी रायें सुना चुके हैं, तो मेरी अपनी राय सुनाना शायद आपकी बुद्धिको अधिक भ्रममें डाल दे। गीतामें भगवानने अर्जुनसे कहा है कि बहुत सुन-सुनकर तेरी बुद्धि भ्रममें पड गई है। इस भ्रम जालमेंसे जब छूटेगा, तब सही तुझे सच्चा ज्ञान होगा। आपके यहा पहले अगर दस आदमी आ चुके हों, तो मैं ग्यारहवा आकर, सभव कि आपकी बुद्धिमें अधिक भ्रम पैदा कर दू। इससे कार्यकी हानि ही होगी। यह सोचकर मैं आना नही चाहता था। लेकिन आग्रहवश आना पडा।

जवाहरलालजी बहुत दफा मौजूदा सरकारकी कडी टीका किया करते हैं। वह कहते हैं कि इसका कारोबार इतना अव्यवस्थित और निकम्मा है कि उससे बढकर निकम्मा दूसरा हो ही नही सकता। इस सरकारकी अक्षमताका पार नहीं है। उनकी टीकासे मैं पूरी तरह सहमत हू। लेकिन मेरे विचारमें यह हाल सिर्फ हिंदुस्तानकी सरकारका ही नही, दुनियाकी सभी सरकारोंका है। लेकिन हिंदुस्तान-सरकारकी एक खुसूसियत है, उसने यहाकी प्रजाको नि शस्त्र बना रखा है। इसलिए वह बडी निश्चिंत होकर बडे आरामसे

राज्य करती थी। अब अचानक आफत आगई है। उसका सामना करनेकी बुद्धि और ताकत अब हमारी सरकारमें नहीं है। लेकिन यह भारत-सरकारकी विशेषता है। परतु आज तो जगतके सभी राज्यतत्र बेकार साबित हो चुके है। इसका एक कारण है। उसपर आपको ध्यान देना चाहिए। जैसे-जैसे यत्रोकी क्षमता बढती जाती है, वैसे-वैसे बुद्धिकी क्षमता घटती जाती है। इसलिए जहा देखिए, अव्यवस्थाका ही साम्राज्य फैला हुआ है।

जबसे अमेरिका-जैसा बडा और प्रतापी राज्य युद्धमें शामिल हुआ है, तबसे युद्धका सारा कारोबार अमेरिकाकी ही सलाहसे चलता है। चौबीस हजार मील लबी दुनियाका सारा व्यवहार अमेरिका करता है। "सामान इधरसे उधर हमारी सलाहसे जायगा, यूरोपका उद्धार हमारे जरिये होगा, हिंदुस्तानको हम बचायगे, जापानका मुकाबला हम करेंगे, आस्ट्रेलियाकी मदद हम करेंगे।"

अमेरिकाकी तरफसे उसके अध्यक्ष, रूजवेल्ट, यह कह रहे हैं। जो सबसे बुद्धिमान व्यक्ति होता है वही अध्यक्ष चुना जाता है, ऐसी बात नही। पुराने जमानेमें राजाका पुत्र राजा बनता था। कभी-कभी नसीबसे वह बुद्धिमान होता था। उसी तरह आज जो व्यक्ति चुने जाते है, वे भी नसीबसे ही बुद्धिमान होते है। ज्यादा सभव यही है कि उनमें अधिक बुद्धि नही होती। जिनमें बुद्धि कम और अहकारकी मात्रा अधिक होती है, वे ही अक्सर चुने जाते है, क्योंकि ऐसे व्यवहारोंमें वे ही पडते है। बुद्धिमान तो दूर-दूर ही रहते है, क्योकि वे दुनियापर कम-से-कम सत्ता चलानेमें ही बुद्धिमानी समझते हैं। इसलिए यानें अपनी इस निष्ठाके कारण ही राजकाजमें कम दखल देते है। अक्सर जो लोग राष्ट्रके नेता बन जाते हैं, वे बुद्धिसे श्रेष्ठ नही होते। उस देशकी आम जनताकी बुद्धिसे चाहे उनकी बुद्धि कम न हो। शायद कुछ अधिक भी हो। तो भी वे बुद्धिमान नहीं कहे जा सकते।

इसके अलावा, उनसे जब कोई सलाह पूछी जाती है, तो उन्हे फौरन जवाब देना पडता है। फौरन पूछने और फौरन जवाब देनेके शीघ्र औजार

तैयार हुए हैं। पाच-दस मिनिटमें दुनियाभरके कारोबारका जवाब देना पडता है। यह कोई हँसीकी बात नही है। बेचारे क्या करें ? जैसा सूझता है, जवाब देते हैं। इसलिए मैं कहता हू कि कारोबार बुद्धिसे नही चल रहा है। सारा नसीबका खल है।

इसलिए जबसे अमेरिका युद्धमें शामिल हुआ, तभीसे मुझे यह विश्वास हो गया कि यह युद्ध अब मानवके हाथमें नही रहा, बल्कि मानव ही युद्धके हाथमें चला गया। जावा और मलायामें इनकी बुद्धि चकरा गई। सूझबूझ धरी रह गई। तबसे सामान्य मनुष्यको भी यह शका होने लगी है कि इतना बडा साम्राज्य चलानेवालोमें बुद्धिकी इतनी पोल और व्यवस्था-शक्तिकी इतनी कमी कैसे रह गई। सिंगापुर और बर्मामें इनकी ऐसी दुदशा क्यो हुई ?

वे कह सकते हैं कि तुम लडाईसे दूर-दूर रहते हो, इसलिए ऐसी बात कर सकते हो। हमें जो सूझता है वह करते हैं। तुम अगर हमारी जगह होते और इतनी बडी जिम्मेवारी तुमपर होती, तो हमसे भी ज्यादा गलतिया करते।

मैं कबूल करता हू कि हम काफी भूल करते। लेकिन मैं यह पूछता हू कि यह जिम्मेवारी आपके सिरपर डाली किसने ? वे जवाब देते हैं, 'इतिहासने डाली है। पहले ईस्ट इण्डिया कम्पनी कायम हुई, इस देशसे तिजारत शुरू हुई, क्लाइवने ब्रिटिश राज्यकी नीव डाली, वारन हेस्टिंग्सने बाकायदा राज्य कारबार जारी किया। इस तरह इतिहासने धीरे धीरे जिम्मेवारी हम सौंपी। अब हम उसे छोड नही सकते।"

हम कहते, 'अगर आप इतने दूरसे यहा आ सकते थे, तो जा भी नही सकते हैं क्या ? क्या वापस जानसे इतिहासके पृष्ठ आपको रोकते हैं ? जैसे आनेका इतिहास बना, वैसे जानेका भी तो इतिहास बन सकता है। आनेका इतिहास भद्दा और भयानक है। वापस चले जानेका इतिहास उज्ज्वल और खूबसूरत होगा। उसमें सुन्दरता और नीतिमत्ता होगी। आप ऐतिहासिक जिम्मेवारीके बोझसे नाहक क्यो दबे जा रहे हैं !'

दूसरे राष्ट्र भी इसी ऐतिहासिक जिम्मेवारीके भ्रमजालमें फसे हुए हैं। वे नही जानते कि इतिहास आखिर मानवकी ही करतूत हैं। इतिहास हमको बनाता है यह कुछ अशोम सही है। लेकिन उसी तरह यह भी सही है कि हम भी इतिहासको बनाते हैं। आज तो ऐतिहासिक जिम्मेवारीका ढकोसला नाहक हमारे सामने रचा जा रहा हैं? रूजवेल्ट कहता है, "प्रशात महासागर अमेरिकाकी बगलमे हैं। उसकी ओर उसमे बसे हुए टापुओकी जिम्मेवारी हमारी है।" जापान कह सकता है कि हमारा तो टापू ही प्रशात महासागरमे बसा हुआ है। इसलिए हमारी जिम्मेवारी विशेष है। इस तरह यह जिम्मेवारियोका व्यर्थका झगडा चलता है।

लेकिन मेरे विचारमे सबसे भयानक वस्तु यह है कि इस हत्याकाडमें आम जनताको निष्कारण दाखिल किया जाता है। जिस जनताको युद्धसे कोई मतलब नही हैं, उसका खून बहाया जाता है, उसके नामपर दूसरे लोगोका खून बहाया जाता है। यह सारी व्यवस्थापकोकी करतूत ह। उसमें आम जनताका कोई लाभ नही हैं। इसलिए दुनियाभरके व्यवस्था-पकोसे हम कहते हैं कि अब आप व्यवस्था छोड दीजिए; तभी हम सुखी होगें। हम अपने यहाके व्यवस्थापकोंसे प्रार्थना कर। अमेरिका, इगलैण्ड, जापान, जर्मनी, अपने-अपने व्यवस्थापकोसे विनती करे। न मालूम वहाके लोगोको कब सूझेगी। कम-से-कम हम तो शुरू कर द। हम उनसे कहें कि तुमने हजार सालसे व्यवस्थाके कई प्रयोग किये। हमे कोई सुख नही हुआ। आपकी व्यवस्थामें कई उलट-फेर हुए। एकमेंसे दूसरी व्यवस्था कायम की गई। कई क्रातिया हुई, लडाइया हुईं। लोगोका व्यर्थ सहार हुआ। आपने बहुत प्रयोग कर लिये, अब बस कीजिए। ज्यादा-से-ज्यादा अव्यवस्था और पीडा व्यवस्थापक वर्गने ही दी है। आपने काफी कोलाहल मचा दिया। अब मेहरबानी करके हट जाइए, तो हममें ज्यादा शक्ति आयगी, दु ख मिट जायगा और सुख होगा।

व्यवस्थापक वर्ग कहता है, तुम्हारी व्यवस्थाके लिए हमारी जरूरत है। हम कहते हैं, हमारी कौन-सी जरूरतें तुम पूरी करते हो? हमे भूख लगती

है। परमात्माकी दी हुई जमीन में हम खेती करते हैं। व्यवस्थापक वर्ग खेती नहीं करता। खेतीके द्वारा फसल पैदा करनेकी कला परमात्माकी कृपासे और दस लाख सालके अनुभवसे प्राप्त हुई है, इसलिए हमारी भूख मिटानेके लिए तुम्हारी कोई जरूरत नहीं है। प्यास बुझानेके लिए भी तुम्हारी जरूरत नहीं है। बारिश होती है, जलाशयोंमें पानी भर जाता है। इस तरह हम जमीनमेंसे अन्न और आसमानसे पानी मिल जाता है। अब रही हवा। उसके लिए भी व्यवस्थाकी जरूरत नहीं। परमात्माने हरएकको एक-एक नाक दी है। दस आदमियोंको मिलाकर एक नाक नहीं दी। ऐसा तो नहीं होता कि एक आदमी अपनी नाकमें हवा बटोर ले और उसे दस आदमियोंमें बांट दे। आपस आपसके व्यवहारकी भी वही बात है। नीतिशास्त्रसे हमने विवाह करके कुटुम्ब-संस्था बनाना सीखा है। शास्त्रने हम पड़ोसीसे प्रेम करना सिखाया है। इस प्रकार हमारी सारी जरूरतें पूरी हो जाती हैं। राज्यव्यवस्थापकोंके लिए अब बचता ही क्या है?

सिर्फ एक वस्तु बाकी रह जाती है। किसानकी जितनी फसल होगी, उतनी सारी वह कैसे खायगा। आसमानके पक्षी और जमीनके चूहे कुछ हिस्सा बटा लेते हैं। लेकिन तो भी अन्नके ढेर लग जायगे। किसान उनका क्या करेगा? इसलिए किसानको बोझ कम करनेकी जरूरत है। और व्यवस्थापक-वर्ग उसकी पैदावारका कुछ हिस्सा इसीलिए ले लेता है। हम कहते हैं कि किसानके बोझकी फिक्र आप न कीजिए। वह कम अनाज पैदा करेगा। उसे आराम मिलेगा। उसके लिए उसे आपको टैक्स देनेकी जरूरत नहीं।

इस तरह जीवनके सभी कार्य व्यवस्थापक-वर्गके बिना ही सपन्न हो जाते हैं, तब व्यवस्थापक-वर्ग कहता है कि हम आपको तालीम देते हैं, आपकी रक्षा करते हैं। इधरका सामान उधर ले जानेमें मदद करते हैं।

इन कामोंके लिए भी हमें व्यवस्थापक वर्गकी जरूरत नहीं है। बच्चा आसमानसे तो नहीं टपकता। वह बे मा-बापका नहीं होता। पैदा होते ही माके स्तनमें उसके लिए दूध पैदा होता है। इस तरह मातासे उसे रक्षण

तब वे अतमें कहते हैं कि हम तुम्हारी रक्षा करते हैं। 'किससे रक्षा करते हैं?' 'परकीय आक्रमणसे।' लेकिन हमपर परकीयो द्वारा आक्रमण ही क्यो होता है? परकीय आक्रमणका यह भूत व्यवस्थापकोने ही खडा किया है। अगर वे हट जाय, तो वह अपने-आप गायब हो जायगा। हम अपने यहाके रक्षकोंसे कह कि आप हट जाइए। जापान, जर्मनी, इग्लैड और अमेरिकाके लोग अपने-अपने रक्षकोंसे कह कि आप जाइए, तो विदेशी आक्रमणके होनेका डर नही रहेगा। किसी देशकी आम जनता दूसरे देशकी आम जनता पर हमला थोड ही करने वाली है? जापानके किसान हिंदुस्तान पर हमला करने थोडे ही जायगे? आज सुनते हैं कि अमेरिकाके सवा दो लाख आदमी यहा आये है। वे सेनामे भर्ती कर-करके यहा लाये गये है। क्योकि अमेरिकाकी रक्षाके लिए हिंदुस्तान भी एक फ्रण्ट (मोर्चा) है। आज तो सारा ससार ही 'फ्रण्ट' बन रहा है। इस फ्रण्टकी भी कोई सीमा है? ज्योतिषशास्त्रके अनुसार कभी-कभी पृथ्वी भी मगलकी कक्षाम आ जाती है। तब इन दोनो ग्रहोंके टकरा जानका डर रहता है। इस दृष्टिसे तो सारा त्रिभुवन ही हमारा मोर्चा है। इसका क्या इलाज? एक ही इलाज है कि हरएक अपनी-अपनी जगह शातिपूर्वक अपना काम करता रहे और किसीसे न डरे। अपनी कक्षासे बाहर जानेकी किसीको जरूरत ही नही है। रक्षाका यही सबसे सफल उपाय है। यह रक्षाका प्रश्न एक दुष्टचक्र है। यह हौवा व्यवस्थापकोका ही खडा किया हुआ है। इस बहाने वे अपने अस्तित्वको हमपर लादनेकी कोशिश करते हैं। वे कहते है, दूसरोके आक्रमणसे बचानके लिए तुमको हमारी जरूरत है। हम कहत हैं व्यवस्थापकोका होना ही आक्रमणकी जड हैं।

हमारी रक्षा करनके बहाने वे फौज रखते है। आक्रमण तो कभी-कभी होता है। लेकिन सेनाका उपयोग प्राय हमको दबानेके लिए किया जाता है। हम कहते है, 'आप हमसे अधिक बुद्धिमान हैं तभी तो हमारे व्यवस्थापक हुए!' अगर हम आपकी बात न मानें, तो हमें समझाइए। उसके लिए लश्कर-की क्या जरूरत? आप हमारे मा-बाप-जैसे मार्गदर्शक है। अपनी बात हमपर लादनके लिए आप लश्करकी सहायता क्यो लेते हैं? बाप अपने बच्चेको

कोई बात समझाना चाहे, तो दोनोंके बीचमें एक सिपाहीकी क्या जरूरत ?

शिक्षक अगर लडकोंसे अधिक बुद्धिमान है, तो बुद्धिहीन लडकोको अपनी बात समझानेके लिए वह क्या अपने पास एक सिपाही रखेगा। लेकिन होता तो ऐसा ही है। वह अपने पास एक निर्जीव सिपाही, एक छडी, रख लेता है। बुद्धिमान शिक्षकका उसके लडकोंसे सबध रखनेके लिए निर्बुद्धि और निर्जीव छडीका उपयोग कैसे उपयुक्त हो सकता है ? लेकिन हरएक दर्जे (क्लास) म वह बराबर चलता है। कहा जाता है कि खानेमे अगर थोडी-सी मिर्च हो तो खाना जल्दी हजम हो जाता है। उसी तरह छडीके साथ शिक्षण दिया जाय तो जल्दी गले उतरता है। बडे आश्चर्यकी बात है कि इस तरहकी दलीले देकर शिक्षणमें छडीका और राज्यशास्त्रमे लश्कर-का समर्थन किया जाता है।

अगर व्यवस्थापक वर्ग बुद्धिमान है, तो समाजमे जो दूसरे दो-चार बुद्धिमान व्यक्ति होंगे, उन्हे पहचाननेकी अक्ल उसम होगी। वह उन्हे और उनके द्वारा जनताको समझानेकी कोशिश करेगा। उनकी समझमें न आवे, तो फिर समझायगा। बार-बार समझने पर भी समझमे न आवे, तो सब्र करेगा। सब्र भी तो कोई चीज है ? लोगोकी समझमे जितना आये, उतनी ही व्यवस्था करेगा।

लेकिन हमारे व्यवस्थापक तो समझानेकी कोशिश नही करते। उदास बाते करते है। इसीलिए उन्हें लश्करकी जरूरत जान पडती है। इससे स्पष्ट है कि इन व्यवस्थापकोकी व्यवस्था लोगोने कबूल नही की है। वे उसे जबर-दस्ती लादना चाहते है। लेकिन वह खुलकर नही कर सकते। इसलिए बहाना बताते है कि हम उन्हें दूसरोंके आक्रमणसे बचानेके लिए लश्कर रखते है।

रक्षणका यह सही उपाय नही है। सही उपाय एक ही है। वह यह कि लोग बुद्धिपूर्वक एकत्र होकर शातिपूर्वक अपना-अपना काम करें, हिल-मिलकर रहें और व्यवस्थापकोंसे कहें कि आप हट जाइए। कम-से-कम हिंदुस्तानके लिए आज ही वह समय आ गया है। हमारे व्यवस्थापकोको अब फौरन हट जाना चाहिए। हमने भी व्यवस्थाके सिद्धात अनुभवसे सीखे हैं। हम अपनी कर-

लूतसे उतनी व्यवस्था नहीं करेंगे, जितनी कि व्यवस्थापकोंने की है। इतना ज्ञान तो हम है। आपकी फौज, अदालत, टैक्स, वगैरासे हमारा काम बिगड़ता है। इससे अन्नावश हमारा कुछ नहीं बिगडेगा। हमारे पास जमीन है, आसमान है, गाय है, गला है और भगवान है। हम अपनी व्यवस्था कर लेंगे। यह साफ शब्दोंमें कह देनेका मौका आज ही आया है। कम-से-कम हिंदुस्तानके लिए तो आ ही गया है। दुनियाके दूसरे राष्ट्रोंके लिए भी आया है। लेकिन वे जब महसूस करेंगे, तब करेंगे।

सवाल उठाया जाता है कि अगर अंग्रेज चले जाय, तो हिंदुस्तान जापानके हमलेका मुकाबला नहीं कर सकेगा। मैं कहता हूं, कर सकेगा। लेकिन फिर जापानका हमला होगा ही क्यों? जापान तो इग्लैंडका शिष्य बन रहा है। साम्राज्यवादका गुरु तो इग्लैंड है। आज ब्रिटिश लोग कहते हैं कि अब हम साम्राज्यवादको नहीं मानते। श्रीमती रूजवेल्ट कहती हैं कि अब साम्राज्यवादके दिन लद चुके हैं। क्यों भाई, क्या इसका भी पहलेसे कोई कैलेंडर बना रखा था? क्या इग्लैंडकी यह प्रतिज्ञा थी कि उन्नीस सौ बयालीसतक ही हम साम्राज्यवादी रहेंगे, बादमें साम्राज्य छोड़ देंगे? यह विचार आज ही क्यों सूझा? मलाया और सिंगापुरमें जो अनुभव हुआ उसका यह परिणाम है। मलायामें इन लोगोंने देखा कि वहांके लोग कोई मदद नहीं करते, जापानियोंसे मिल जाते हैं। इतने दूर-दूरके देश सभालना मुश्किल हो जाता है। इसलिए अब ये कहने लगे हैं कि अब साम्राज्यवादके दिन बीत गये हैं।

लेकिन जापान कहता है कि यहां भी 'मुनरो डॉक्ट्रिन' लागू करो। मुनरो डॉक्ट्रिनके माने हैं लूटनेम स्वदेशी धर्म। जापानके लिए वह एक अच्छा सहारा हो गया है। वह कहता है, कहा मलाया और कहा इगलैण्ड? जावा पर डच लोगोंका राज्य नहीं होना चाहिए। लूटनेके लिए इतनी दूर नहीं जाना चाहिए। यहींतक इनका स्वदेशी धर्म पहुच पाया है।

इगलैण्डने देख लिया कि इतने दूरके देश सम्हालना मुश्किल हो जाता है। मलायाके प्रकरणसे वह डर गया है। वह कहेगा, हम डरे नहीं, साय-

धान होगये हैं। लेकिन डर और सावधानीकी सीमा-रेखा ठहराना मुश्किल है। मलायामें जो अनुभव हुआ वही ब्रह्मदेशमें हो रहा है। हिंदुस्तानमें भी वही होनेका डर है। अब उन्हें इंग्लैण्डकी रक्षाकी पड़ी है। वे समझ गये हैं कि हिंदुस्तानको बचानेकी शक्ति उनमें नहीं है। बेचारा वेवेल तो साफ-साफ कहता है कि हिंदुस्तानका किनारा इतना बड़ा है कि उसकी रक्षा हम नहीं कर सकते। हिंदुस्तानियोंसे भी आशा नहीं कर सकते; क्योंकि उनके साथ बड़ा दुर्व्यवहार किया है।

कोई साम्राज्य अनादि-अनंत नहीं है। लेकिन साम्राज्यवादका यह स्वभाव है कि वह अपनी प्रतिमा, अपने ही आकार और शक्लकी विरोधी शक्ति, पैदा करके मरता है। एक साम्राज्यकी संतान दूसरा साम्राज्य होता है। उसके बाद तीसरा साम्राज्य आता है। इस प्रकार साम्राज्यवाद बहु-संतानशाली है। इंग्लैण्डके बाद अब जापान आना चाहता है। इन दोनोंकी मुठभेड़में बेचारे हिंदुस्तानका खात्मा होनेका डर है।

इसलिए अब हमें अपने व्यवस्थापकोंसे ही जान छुड़ानी चाहिए। सिंगापुरमें यह साबित हो चुका है कि उनमें रक्षा करनेकी सामर्थ्य नहीं है। इतने बड़े दिग्विजयी कहलाते थे। कहते थे, सिंगापुर ऐसा मजबूत गढ़ है कि यावच्चंद्रदिवाकरौ बना रहेगा। परीक्षित भी ऐसा जबरदस्त किला नहीं बना सका था। वह सात दिन तक किलेके अंदर ऋषिसे ज्ञान चर्चा करता रहा। मृत्युने उसका वहां भी पिंड नहीं छोड़ा। आप भी दुनियाकी रक्षाके ठेकेदार बनकर यावच्चंद्रदिवाकरौ अपना साम्राज्य कायम रखनेकी बात करते थे। लेकिन परीक्षितकी तरह आपका किला भी आठ-दस रोजमें ढह गया। आपको हटना पड़ा। अंग्रेजोंको यह अनुभव हो गया कि दस-दस हजार मीलकी दूरीसे जनताकी मदद के बिना लड़ाई नहीं लड़ी जा सकती। अंग्रेज कहते आये हैं कि हम आखिरतक लड़ेंगे, हरगिज नहीं हटेंगे। लेकिन हांगकांग और सिंगापुरसे हटना ही पड़ा। आखिरतक लड़नेवाले थे, तो हटनेका मौका ही क्यों आया? वे कहते हैं कि हम आखिरतक लड़ेंगे। शायद उनका यह मतलब है कि हम जब पीछे हटेंगे तभी हटेंगे, उससे पहले

नही हटेगे। इसके सिवा दूसरा कोई मतलब मुझे तो नही नजर आता।

फिर कहने लगे कि रगूनसे हटते-हटते उस शहरमे ऐसी आग लगा दी कि चालीस मीलपरसे तमाशा देख सकते थे। रगून किसके बापका था ? इतनी सपत्ति तबाह हो गई। किसका नुकसान हुआ ?

क्रिप्स साहब आये। एक योजना लेकर आये। कहने लगे इसके साथ शादी कर लो। उसे हमारे पल्ले बाधकर हमे लडाईमे शामिल कराना चाहते थे। उनकी यह चाल थी कि इस तरह हिंदुस्तानका अनुमोदन मिलनेसे लडाईको नैतिक योग्यता मिल जायगी। लेकिन असली लेने-देनेकी बात उधारी की थी। कहने लगे, लेना-देना लडाईकी धूम-धाममे नहीं हो सकता। व्यापारियोका एक नियम है—देते वक्त 'पहले लिख, पीछे दे और लेते वक्त पहले ले, पीछे लिख।' इसी व्यापारी सूत्रसे क्रिप्स काम लेना चाहता था। लडाईके बाद जो कुछ देना है, दे देगे, तबतक हम जैसे नचावे वैसे नाचो। काग्रेसको यह मजूर नही हुआ। गाधीजी फौरन ताड गये।

इसलिए गाधीजी अब लेने-देनेकी बात नही करना चाहते। वे कहते है भगवानने यह जमीन हमे दी है, मेहरबानी करके आप यहासे हट जाइए। तब वे वही पुराना अराजकताका सवाल उठाते है। वे तो अव्यवस्था और अराजकताका डर दिखा-दिखाकर ही सत्ता चलाते आये है। इसीके भरोसे व्यवस्थापक-वर्ग जनतापर अपना सिक्का जमाता आया है। भविष्यके बडे भयानक चित्र खीचता है। कहता है, हम चले जायगे तो हिंदुस्तानमें बडा भीषण युद्ध होगा। हमें उसका कोई डर नही ह। हिंदुस्तानियोको सोचना चाहिए कि अराजकतासे हमारा और क्या नुकसान होनेवाला है ? आजकी व्यवस्था ही पूरी-पूरी अव्यवस्था ह। इसके मुकाबलेमे अराजकता भी व्यवस्था ही होगी।

इसलिए व्यवस्थापक वर्गसे हमारा अनुरोध है कि आप हमारी फिक्र न कीजिए। अगर आप हट जायगे, तो आप भी बचेगे और हम भी बचेगे। आप इसलिए बचेगे कि हिंदुस्तानको छोडनेसे आपकी नैतिक योग्यता बढ जायगी, साम्राज्यवाद नष्ट होगा और दुनियाका भला होगा। शायद यूरोपम भी लडाई बद हो जायगी। और अगर न हुई, तो आप यूरोपको सम्हालिए। दूरकी चिंता

न कीजिए। अपनी सारी शक्ति यूरोपमें केंद्रित कीजिए। कृपा करके हमारा पिंड छोडिए। हम अपने यहा ज्यादा-से-ज्यादा व्यवस्था करनेकी कोशिश कर लेगे।

आप यही कह रहे हैं। उनकी योजना आगे चलकर क्या आकार लेगी, सो तो मैं नही जानता। लेकिन यह महान् वस्तु है। यह सारी दुनियाके लिए लागू है। केवल उसका आरभ हिंदुस्तानसे हो रहा है। दुनियामें व्यवस्थापकोका ताता-सा लग रहा है। वह जनताके गलेमे तातके समान प्राण-घातक हो रहा है। सारी दुनियाके व्यवस्थापक अगर अपनी-अपनी जगहसे हट जाय, तो दुनियामें शाति होगी और मानवताका कल्याण होगा।[1]

सर्वोदय जून, १९४२

: १९ :

हमारी जीवन-दृष्टि

सत्याग्रह-आश्रम, साबरमतीके सेक्रेटरी श्रीछगनलालजी जोशीने मुझे एक पत्रमें लिखा कि 'तुम्हारे ये जो दो श्लोक[2] है वे मुझे बहुत पसद आये और मैंने उन्हे अपनी प्रार्थनामें शामिल किया है।' वे श्लोक मराठीमें है, क्योंकि उन्हें लिखते समय मुझे उनके प्रचारकी कल्पना नही थी। मैंने वे सिर्फ अपने लिए लिखे थे। इसके सिवा मुझे गुजराती या हिंदी, इतनी—कि जिसमें काव्य-रचना अथवा पद्य-रचना की जा सके—आती ही कहा है? उन्हे

---

[1] वर्धामें राष्ट्रीय युवक संघ, कांग्रेस सैनिक दल और प्रांतीय नगर संरक्षक दलके समक्ष (२५ मई, १९४२ को) दिया गया भाषण।

[2]. अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य असंग्रह।
शरीर-श्रम अस्वाद सर्वत्र भयवर्जन॥
सर्वधर्मी समानत्व स्वदेशी स्पर्शभावना।
ही एकादश सेवावीं नम्रत्वे व्रतनिश्चये॥

लिखकर बहुत दिनोतक में स्वय उनका केवल चिंतन ही करता था। फिर उन्हें मैंने दोनो समयकी प्रार्थनामें शामिल किया। तत्पश्चात कन्याश्रमकी एक लडकीने ये दोनो श्लोक अपनी जरूरत बतलाकर मुझसे लिये। तब वे वहा प्रार्थनामें शामिल हुए। फिर उनका सब जगह प्रचार हुआ। इस सारी प्रस्तावनाका कारण यह है कि मुझे जो कुछ कहना है उससे में इसका सबध बतलाना चाहता हू।

ये दोनो श्लोक हमारी विचारसरणिको प्रकट करनेवाले हैं। हमारी विचारसरणि यह है कि सपूर्ण जीवन उपासनामय है। यह विचार नया नही है, प्राचीन ग्रथोमे भी पाया जाता है। और मुझे तो अपने विचारोको, प्राचीन-का जितना आधार मिले उतना, दिखानेकी आदत होनेके कारण, इसे कोई नया कहे या यह कहे कि इसे प्राचीनताका आधार नही है, तो मैं उस कथनको बिल्कुल ही नही मान सकता। उक्त विचार मुझे पीछे ठेठ वेदा तक दिखाई देता है। उपनिषदोमे तो है ही, किंतु गीतामें वह बिल्कुल स्पष्ट दिखाई देता है। इसीलिए तो उसे मैंने 'गीतामैया" कहा है। मनुष्यका इस दुनियाम अधिक-से अधिक प्रेम और हृदयका नाता दिखानेवाले शब्दका मैंने गीताके लिए उपयोग है।

यद्यपि जीवन समूचा ही उपासनामय है, यह विचार प्राचीन ग्रथोमें होनेपर भी मध्ययुगमें इसमें फर्क पड गया ऐसा जान पडता है' कारण, मध्यकालमें यह विचारसरणि हो गई थी कि कर्म बधनकारक हैं, इतना ही नही बल्कि मारक भी हैं। कर्मका जितना त्याग किया जा सके उतना करो, केवल भिक्षादिक, जो बिल्कुल ही आवश्यक हो, उतना ही करो, इत्यादि बातें थीं। भगवानने गीताम बतलाया है कि कर्मोंम बधन जरूर है और कर्म करने हैं तो उसमेंसे कुछ त्यागने भी पडेंगे। परतु उस मध्यकालम उस विचारकी मर्यादा ध्यानमें नही रक्खी गई, कर्मके सबधम गलत कल्पना बन गई। मध्ययुगके किसी साधारण अच्छे सतकी भावनाकी जाच की जाय तो *यह पाया जायगा कि वह कपडे सीयेगा, खेती करेगा,* पर उसके पीछे विचारधारा यह दिखाई देती है कि यह सब पेटके लिए करता हू, न करू

तो दूसरोपर बोझ पडता है, जो पडना उचित नहीं है। पर यह अधिक बुरा खयाल है। वही भगवत सेवा है यह नही समझा जाता था। भावना सारी यह थी कि जो कुछ भजन, पूजन, जप किया जाता है वह तो हरि-सेवा है, और दिनमे किया हुआ काम केवल पेटके लिए है। नतीजा इसका यह हुआ कि दिनमे, व्यवहारमे कुछ अनुचित किया हुआ भी जायज समझा जाता है। शामको या सबेरे पूजापाठ कर लिया, तो बस काफी है। सबेरेके रामपहरमे झूठ मत बोलो, दूसरे वक्त बोलनेमें हर्ज नही, इत्यादि कल्पनाए लोगोमें रूढ हो गई।

भक्ति-मार्गके भागवत, तुलसी-रामायण, तुकारामगाथा, ज्ञानेश्वरी इत्यादि ग्रथ बहुत ऊचे है। मुझपर उसका बडा असर पडता है। कभी किसी समय हृदय बिल्कुल खिन्न हुआ अथवा मन उत्साहरहित होगया—मुझे ऐसी स्थिति प्राय बहुत कम आती है—तो उस समय तुकारामका कोई अभग, अथवा ज्ञानेश्वरीकी चार ओविया अथवा रामायणकी चार चौपाइया पढी कि मन प्रसन्न हो जाता है। इतना उनका मुझपर असर होता है। तथापि मुझे ऐसा जान पडता है कि उन ग्रथोंको पचाकर हमे समाजको नया दूध तैयार करके देना चाहिए। जैसे गाय चरी (कडवी) खाकर दूध देती है, वैसे ही हम गायका काम स्वीकार करके उपर्युक्त चरी—जो चरी ही की तरह पौष्टिक और मीठी है—खाकर दूध तैयार कर देना चाहिए; क्योंकि वैसा न किया जायगा तो भक्तिके साथ बहुत-सी न पचनेवाली या हमे न रुचनेवाली चीजें भी आ जायगी, जो किसी तरह भी हमें सहेगी नही। उसके लिए हमें नए ग्रथ भी लिखने होगे। मुझे जब ऐसा लगा तभी मैंने गीताई[1] की रचनाका प्रयत्न किया और तत्त्व-ज्ञानके विषयमें अभी कुछ लिखनेका विचार है। वह शायद पूरा हो, सभव न भी हो।

आचरणके बिना भक्ति झूठी है, वह व्यर्थ हो जाती है। आज हालत यह है कि ऊपर 'श्री हरि' लिखकर नीचे जमाखर्चकी बहीमें ५०) देकर १००)

---

[1]. गीताका मराठी समश्लोकी अनुवाद।

के कागजपर सही कराने जैसे जमाखर्च करनेमें लोगोंको भ्रटपटापन नही मालूम होता। अत भक्तिके साथ आचरणकी आवश्यकता है।

आजके भक्त अथवा साधुके नियममें कल्पना यह है कि वह कम खानेवाला और काम भी कम ही करनेवाला होना चाहिए। साधुको ज्यादा काम करना ही नही चाहिए। कोई साधु अगर बर्तन माजने लगा तो लोग कहते है कि साधुको बर्तन माजनेसे क्या सरोकार! हमें समूचा जीवन भक्तिमय, उपासनामय करना पड़ेगा। हमारे ये व्रत, मेरे मनसे, आज तकके हिंदू-धर्मका दूध है। इसके आगेके सौ वर्षोमें उसका मक्खन नही होगा सो नही है। होगा भी अथवा जैसे उन पुराने ग्रथोमें—विचारोमें गदगी घुस गई है, वैसे ही इसमे भी घुस आई तो अगली पीढी उसे निकालेगी भी। पर आज हमें उसकी फिक्र करनेकी जरूरत नही है। आज तो हम उन व्रतोको भक्तिपूर्वक अमलमें लावें, समूचे जीवनको उपासनामय बनावें, जो-जो व्यवहार हम करें, फिर चाहे वह बाजारका काम हो या रसोई बनानेका अथवा चक्की पीसनेका, सबको भगवत-सेवा समझकर करें तो हमारा काम खतम हुआ। यह हमारा ध्येय होना चाहिए।

: २० :

विविध विचार

१—सामूहिक प्रार्थना

व्यक्ति और समूहकी उन्नतिमें कोई भेद नही। जबतक सामूहिक उन्नति नही होती, तबतक व्यक्तिगत उन्नति भी सभव नही। जिस प्रकार एक साफ-सुथरे घरके चारो ओर प्लेग फैल जाय, तो वह साफ-सुथरा घर भी अछूता नही रह सकता, उसी प्रकार वायुमण्डल दूषित होनेपर कोई व्यक्ति उस दोषसे बचा नही रह सकता। अत प्रार्थना व्यक्तिगत न होकर सामूहिक होनी चाहिए। हमारा वैदिक-धर्म भी सामूहिक प्रार्थनाके आधारपर अवलंबित है। गायत्री मत्रमें प्रार्थना की गई है कि हम सब सवितादेवकी

प्रार्थना करते हैं; वे हमारी बुद्धिको शुद्ध करें। यह सामूहिक प्रार्थना है, न कि व्यक्तिगत; क्योंकि ऐसा नही है कि, मैं प्रार्थना करता हू और मेरी बुद्धि शुद्ध करें।

हमारी प्रार्थना तो सामूहिक होनी ही चाहिए और उसमें स्त्रिया और बालक-बालिकाओको भी सम्मिलित होना चाहिए। प्रायः देखा जाता है कि प्रार्थनामें स्त्रिया सम्मिलित नही होती। एक गावमें मैंने देखा कि प्रार्थना-में बहुत-से लोग एकत्र हुए थे; किंतु स्त्री एक भी नही थी। कारण पूछनेपर मालूम हुआ कि केवल एक बाई है, जो प्रार्थनामें आना चाहती है, किंतु अकेली आना उसे पसद नही। प्रार्थनामें स्त्रियोंको भी सम्मिलित होना चाहिए। लोग उन्हें शृंगारकी वस्तु समझकर छोड देते हैं। किंतु यह मानना भूल है। सपूर्ण गावके, या किसी सस्थाके, या एक विचारके, या एक परिवारके सभी व्यक्तियोंको मिलकर प्रार्थना करनी चाहिए। प्रार्थनाका स्थान भी निश्चित कर लेना चाहिए। सामूहिक प्रार्थनाका आयोजन हरिजन-सघ, हरिजन-छात्रावास या ऐसे ही अन्य सार्वजनिक स्थानोंपर करना चाहिए, जिससे उसमें हरिजन तथा अन्य लोग अधिक सख्यामें सम्मिलित हो सकें। प्रार्थना प्रारभ करनेसे पूर्व घटा या शखकी ध्वनि हो जानी चाहिए, जिसे सुनकर आसपासके लोग प्रार्थनाके लिए समयपर एकत्र हो जाय।

'हरिजन सेवक'से

२—संतोंका बाना

जगत ही जो ठहरा, लोग चटसे कह गुजरते हैं, कि तलवारसे तो तलवार लेकर ही लडा जा सकता है। उसके विना काम नही चलता। किंतु यह उनकी वाणी है, जिनके पास तलवार नही है। कितनी ही बार जो वस्तु हमारे पास नही होती, हम उसकी बाजार-दर बढा दिया करते हैं। हमारी दशा भी वैसी ही है। हमारे मनमें तलवार क्यों है? इसलिए कि वह हमारे म्यानमें नही है। यदि म्यानमें तलवार होती तो मनमें उसके लिए मोह क्यों होनेवाला था?

मोह न हुआ होता, और वह इसलिए, कि सच्ची बात हमारी समझमें आगई होती। यदि हमारे तलवार-बहादुर पूर्वज हमारे मुहसे यह सुन लेते, कि तलवारसे तलवार लेकर लड़ा जा सकता है, तो उनकी हँसी रोके न रुकती। इसलिए कि उन्हें लड़ाईका अनुभव था। उन्हें मालूम था कि लड़ा 'ऐसे' जाता है। उन्होंने हमें स्वाभाविक समझा दिया होता कि 'बाबा, तलवारसे ढाल लेकर लड़ा जाता है।' जिस समय लोग 'त' कहनेसे तलवार समझ जाते थे, उस समय लोगोंको लड़नेकी यह कला मालूम थी। अब तो हम 'त' कहनेसे 'तंदुल मट्ठा' समझते हैं, तब हमारे गलेमें यह बात कैसे उतरे ?

हम कहते हैं, जैसे को तैसा होना चाहिए। मगर हम मतलब समझा ही कहा करते हैं ? जैसेको तैसाका अर्थ तो इतना ही है कि जितनी पैनी हमारे दुश्मनकी तलवार हो उतनी ही सख्त हमारी ढाल हो। तब तलवारसे तलवार लेकर लड़नेकी बातको, जैसेको तैसा कह, तो यह क्या हमारी मंदबुद्धिका द्योतक नहीं है ? तलवारसे तो ढाल ही लेकर लड़ा जा सकता है, पर ढालकी सहन करनेकी शक्ति तलवारकी प्रहारक शक्तिसे हार खानेवाली नहीं होनी चाहिए। शत्रुके प्रश्नोंमें यदि पाच सेर क्रोधके अंगारे भरे हों, तो हमारे पास भी पाच सेरसे कम प्रेमका पानी न होना चाहिए। शिक्षक अपने बालकोंके अज्ञानसे लड़ता है। यदि वह जैसेको तैसाका मनमाना तत्त्व ज्ञान ग्रहण कर ले और बच्चोंसे कहने लगे कि 'तुम्हारी समझमें यह जरा-सी बात नहीं आती, तो मेरी समझमें क्यों आनी चाहिए ? और यदि तुम मेरे प्रश्नोंका उत्तर नहीं देते, तो मैं फिर तुम्हारे प्रश्नोंका उत्तर क्यों दू ? तुम अगर अज्ञानका बोझ ढो रहे हो, तो मैं ही अकेला ज्ञानका बोझ क्यों ढोऊं ?' तो इसका उत्तर यही है कि बच्चे अज्ञानका बोझ ढो रहे हैं इसीलिए तुम्हें ज्ञानका बोझ ढोनेकी खास आवश्यकता है। अज्ञानसे ज्ञान लेकर ही लड़ा जा सकता है। जैसेको तैसेका अर्थ यहा केवल इतना ही है, कि तोड़से जोड़ मिलनी चाहिए। हमारे सामनेके आदमीका अज्ञान जितना गहरा हो हमारा ज्ञान भी उतना ही गंभीर होना चाहिए। यही कारण है कि ज्ञानकी मापपर जीनेवाले

देशोमे अज्ञानी-से-अज्ञानी बालकोकी श्रेणीको पढानेके लिए उच्च-से-उच्च ज्ञानवाले शिक्षक रखे जाते है। पुराण-कालके युद्धोमे भी तो एक बात सुनी जाती है। यदि एक मेघके अस्त्र फेकता था, तो दूसरा उसके बदले मेघके अस्त्र नही फेकता था, वह तो वायुके अस्त्र फेंकता था। बादलोकी चढाईमे बादल ही भेजे कि बादलोपर बादलका वर्ग हुआ और हुआ गहरा अधकार। और वायु भेजी कि एक एक करके बादल तितर-बितर। अज्ञानके मस्तकपर अज्ञानके ही कीले ठोकनेसे फायदा ? अज्ञानको तो ज्ञानसे दूर करना चाहिए।

जिसे व्यवहारकी थोडी-सी भी जानकारी है, उसे इस बातके समझनेमे कुछ भी अडचन नही पडनी चाहिए। अगारे बुझाने हो तो पानी डालना चाहिए। अधेरा हटाना हो तो दिया जलाना चाहिए। यह वैध विरोध किसकी समझमे नही आता ? और यदि ये बाते समझमे आती है, तो सतोकी यह वाणी क्यो समझमे नही आती, कि क्रोधको प्रेमसे जीतना चाहिए; बुराईको भलाईसे जीतना चाहिए; कजूसपनेको दरियादिलीसे जीतना चाहिए; खोटेको खरेपनसे जीतना चाहिए ? ये सब भी व्यवहारकी बाते है। हमारी समझमे तो तब आवें, जब हम विचार करे। हम अपने ही मनमे अगर खोज करें, तो हमे सब बातोका पता चल जाय।

ह० से०, २ जून, १९३४

३—निष्ठाकी कमी

गाधी-युगके साहित्यकी हलचलमे अनेक गुण है; पर एक दोष भी है। जितने उत्साहसे, प्रेमसे, निष्ठासे मध्ययुगमें सत प्रचार करते थे, मुझे नही दीखता, कि हम उसी निष्ठासे विचार-प्रचारका कार्य कर रहे है। जबर-दस्तीसे, रिश्वतसे, अहकारसे, उत्साहके अतिरेकसे और जल्दबाजीसे मिशनरीकी तरह एकागी, अधवृत्तिकी तरह आप विचार-प्रचारका कार्य करें, ऐसी बात मै नही कहता। वह बुरी है, परतु निष्ठावत सत, गाव-गावमे जाकर हरि-नाम ध्वनिकी गूज मचा देते थे, वह हम नही करते। वैसा निष्ठावत प्रचार वर्त्तमान हलचलमे नही है। ये बाते मुझपर भी लागू होती

है। सतोंका-सा उत्साह आज चाहिए। आजकी हलचलमें योग्यताकी कमी नहीं। उदाहरणार्थ जो कार्य संतोंने किया उसी कार्यको आगे खींचा जा रहा है। परन्तु संतोंमें जो निष्ठा थी वह असीम थी—वह उनमें समाती न थी—वह फटकर बाहर फैलती थी। उस तीव्रताकी, उस वेगकी निष्ठा आज नहीं मिलती। पानी वहीं-का-वहीं रुक गया है। बरसता है, पर वह नहीं रहा—वह फैलता नहीं, जलाशय नहीं बनाता, प्रवाहित नहीं होता, खेती हरी-भरी नहीं होती।

नारद तीनों लोकमें फिरता। वह नीचे दरजेके लोगोंमें घूमता, मध्यम श्रेणीके लोगोंके बीच जाता, उच्च श्रेणीके लोगोंतक पहुंचता, यही तो लोक-समुदाय है। एक मित्रने मुझसे कहा कि आजके समाचार-पत्र नारद हुए। परन्तु ये नारद, नारद न हुए के बराबर हैं। इसमें पैसे देनेकी व्याधि है, समझ लेनेकी उपाधि है। परन्तु देवर्षि घर-घर अपने आप जाता, मधुर वाणीमें अपने विचार लोगोंके गले उतारता और फिर उन्हींका आभार मानता। जो विचार सुनते, उन्हींका वह उपकार मानता। नारदको मालूम होता कि उसे आज भगवद्दर्शन हुए। आज देवर्षिका वही काम ठीक-ठीक नहीं हो रहा है। हो कैसे, हमारे हृदयमें वह प्रतिबिंबित ही नहीं। खादी अस्पृश्यता-निवारण और राष्ट्रीय विचार, सबके प्रचारके लिए व्यक्ति चाहिए, किंतु इन विचारोंका तत्त्वज्ञान ही हमारे पास काफी नहीं—हमारी जानकारी भी पूरी नहीं। जानकारी न होना अज्ञान है, किंतु जानकारीकी प्राप्तिमें लापरवाह रहना दोष है। बापूने अभी एक छोटा-सा लेख लिखा था। उस लेखका आशय था कि हिटलर भी जर्मनीमें यन्त्रोंके महत्त्वको कम कर रहा है और मध्ययुगके समान ही वर्तमान युगमें वह घरू उद्योग धंधोंको प्रोत्साहन दे रहा है। मैंने एक भले कार्यकर्तासे पूछा "आपने वह लेख पढ़ा है?" उन्होंने उत्तर दिया, "नहीं"। कितनी ही बार ज्ञानको सम्मुख पाकर हम कह देते हैं "क्या नया होगा!" यह कल्पना ही घातक है। महाभारतके 'वन-पर्वमें' एक ऋषि धर्मराजके पास आये। धर्मराज वनमें दुःख भोगते थे। धर्म दुःखकी घड़ियोंकी उस कहानीको काटते रहते, किंतु करुणामय ऋषिको

पाकर धर्मका दुःख वाणीके द्वारसे वह निकलता। वह कहते—"ऐसे दुःख किसीने न भोगे होंगे।" ऋषि कहते 'राम और सीताको भी ऐसा ही वनवास भोगना पडा था।" धर्म कहते, "जरा वह रामकी कथा तो कहिए।" यदि इन बातोपरसे कोई कहे कि धर्मको रामकी कथा मालूम न थी, तो उस व्यक्तिको इसे अज्ञान-सीमा ही समझनी चाहिए! धर्मको दीखना कि ऋषिके मुखसे पुनः रामकी उज्ज्वल कथा सुननी चाहिए। पानी वही है, परंतु जो 'गोमुख' मे आया, कि अधिक पवित्र हुआ।

ह० से०, ३० मार्च, १९३४

४—सेवकका पाथेय

वर्धाका ग्राम-सेवा-मडल, वर्धा तहसीलमें ग्राम-सेवाके कार्यका छोटे पैमानेपर एक व्यवस्थित प्रयोग कर रहा है। इस संस्थाकी ओरसे वर्धा तहसीलके १२ गावोमे काम हो रहा है। इन कपकी अपनी वार्षिक बैठकम उसने काफी वादविवादके बाद नीचे लिखा एक प्रस्ताव स्वीकार किया—

ग्राम-सेवा-मडलकी ओरसे देहातम काम करनेवाला प्रत्येक मनुष्य (१) प्रतिदिन कम-से-कम आठ घटे शारीरिक श्रम करनेवाला और प्रतिदिन चार आनेमें अपना जीवन निर्वाह करनकी तैयारी रखनेवाला होना चाहिए, और (२) किसी भी परिस्थितिम, कहीसे भी सपरिवार पूरा काम करनवाले प्रत्येक व्यक्तिके आठ आना प्रतिदिनमे अधिककी अपेक्षा न रखनेवाला होना चाहिए।"

"१ नववर, १९३८ से एक वर्षतक जो ग्राम-सेवक चर्खासघके भावसे सूत कातकर जितनी मजदूरी कमायगा उतनी ही अतिरिक्त मदद और लनेका उसे अधिकार रहेगा।"

मुझसे यह कहा गया है कि इस प्रस्तावपर मैं अपना भाष्य लिखू। प्रस्तावका स्वरूप इतना क्रातिकारक है कि लोगोंके लिए उसके भाष्यकी अपेक्षा रखना स्वाभाविक है। इसका भाष्य यदि हुआ, तो वास्तविक व्यवहार द्वारा होगा, शब्दो द्वारा नही। तथापि साहित्यके ऋणसे उऋण होना भी आवश्यक है, अतः नीचे थोडेमे कुछ लिखता हू।

प्रस्तावके पूर्वार्द्धमें शारीरिक श्रम और नैष्ठिक गरीबीका तत्व स्वीकारा गया है। एक-न-एक कारण खड़ा करके अबतक हम शारीरिक श्रमसे बचनेका प्रयत्न करते रहे हैं। समाजमें फैली हुई विषमता, ऊंच-नीचके विचार, गुलामी और हिंसा, ये सब विशेषकर उस आर्थिक पापके परिणाम हैं, जो शारीरिक श्रमसे बचनेके प्रयत्नमें हम अबतक करते आए हैं। बच्चे और बूढ़े शारीरिक श्रम न करें, विद्यार्थी और अध्यापक शारीरिक श्रम न करें, जो रोगी और असमर्थ हैं वे तो कदापि न करें, निरुद्योगी और उच्चोद्योगी भी न करें, सन्यासी और देशभक्त भी न करें, विचारक, प्रचारक और व्यवस्थापक भी शारीरिक श्रम न करें, तो आखिर करें कौन ! वे, जो अज्ञानी हैं और पीड़ित हैं ? प्रस्तावके पूर्वार्द्धमें इसी वस्तुका परिचय कराते हुए यह कहा गया है कि जबतक हम इस भयंकर स्थितिसे अपना पिंड न छुड़ा लेंगे, तबतक दूसरी कोई भी स्थापना, सिद्धांत, वाद, व्यवस्था, और रचनासे हमारा निस्तार न होगा। मनुके शब्दोंमें यह अर्थ-शुचित्वका एक प्रयत्न है।

प्रस्तावके उत्तरार्द्धको 'काम-शुचित्वका प्रयत्न' कहा जा सकता है। स्त्रियोंको अपनी भोग्य सामग्री समझना एक ओर उनसे अपनी पूरी व्यक्तिगत सेवा करवाना और दूसरी ओर उन्हें अपना भार समझकर उस भारको समाज-सेवापर लादना, एक ऐसी वृत्ति है, जिसमें सेवाका केवल नाम-मात्र रह जाता है। इसके कारण स्त्रियोंकी अद्भुत शक्तिको कोई अवकाश नहीं मिलता और समाज-सेवाका कार्य एकांगी और महंगा होता जाता है। यदि कुटुंब अथवा परिवारकी व्याख्यामें कुटुंबको समाज-सेवाके लिए संगठित एक सहज, स्वयंभू, पूर्ण एवं सहायक मंडल मान लिया जाय, तो कुटुंब समाजके लिए भाररूप न रह जाय, उल्टे समाजका उपकारक बन जाय।

अर्थ-शुचित्व और काम-शुचित्व दोनों सेवा-धर्मके सच्चे साधन हैं और साध्य भी यही है।

जो लोग इस गरीब और पीड़ित देशकी सेवा उत्कट लगनके साथ करना चाहते हैं, वे यदि इस मर्मको समझ लें कि अर्थ-शुचित्व और काम-शुचित्वके

बिना वास्तविक सेवा हो ही नहीं सकती, तो मुझे आशा है कि दोनों तत्त्वोंकी सिद्धिके लिए—फिर ये कितने ही कठिन क्यों न प्रतीत हों—प्रयत्न करनेमें अपनी ओरसे बात उठा न रक्खेंगे।

प्रस्तावका अंतिम भाग उन सेवकोंकी अतिरिक्त सहायताके लिए है, जो ग्रामसेवाके क्षेत्रमें प्रवेश किया चाहते हैं या नए-नए प्रविष्ट हुए हैं। महाराष्ट्र-चर्खा-संघने प्रेमपूर्वक, साहसपूर्वक, और सकोचपूर्वक कुछ ऐसी व्यवस्था की है कि जिससे कातनेवालोंको बढ़ी हुई मजदूरीके रूपमें ९ घंटे काम करनेपर ३ आने मिलेंगे। यह मजदूरी पर्याप्त तो नहीं है। अपने पिछले ४॥ महीनोंकी कताईके लगातार अनुभवपरसे मैं कह सकता हूं कि इस बढ़ी हुई दरके अनुसार भी ९ घंटेमें ३ आने कमाना साधारणतः कठिन ही होगा। अपने इस कथनकी पुष्टिके विवरणमें मैं यहां नहीं उतरूंगा, यद्यपि विवरण मेरे पास तैयार है। किंतु इस स्थितिमें भी सेवकोंको तो उसी तरहका जीवन बिताना चाहिए, जिस तरहका जीवन देशकी गरीब और अनाथ स्त्रियां आज बिता रही हैं। तथापि जबतक सेवा-कार्यका रहस्य अपने-आप स्वयं स्फूर्तिसे प्रकट न होने लगे, तबतक सेवाके संशोधन और चिंतनके लिए प्राथमिक अवस्थामें सेवकको सेवा-कार्यके अतिरिक्त थोड़ी फुरसत मिलनी चाहिए। इस अतिरिक्त सहायताका यही हेतु है। आगे तो जब सेवक स्वयं चिंतनमें मग्न रहने लगेगा, तो संत तुकारामके शब्दोंमें वह भी यह गुनगुनाने लगेगा कि "चिंतनासी न लगे वेळ। सर्वकाळ करावें।"

ह० से०, २१ दिसंबर, १९३५

५—तकलीकी उपासना

स्नान और प्रार्थनाके पश्चात् तकली-उपासना। रोज आध घंटे मौन धारण करके तकली चलानी चाहिए। कल तकली कातते हुए पूछा गया कि यहां कितने लोग तकली चलाते हैं? उत्तर मिला—दो सौ। मुझे आंकड़े नहीं चाहिए थे। मैंने तो सहज ही पूछा था। यह तो गंगोत्रीका प्रवाह है। प्रारंभमें अत्यंत छोटा दीखता है पर आगे इतना प्रचंड हो जाता है कि

नाप-जोखकी सुविधा ही नही रह जाती। उसमें केवल डुबकी ही लगानी होती है। तकली बिल्कुल छोटी दीखती है, परन्तु उसकी शक्ति अनन्त है। वह चाहे जहा पहुच सकती है। घरमें वह और हाथमें भी वह, माता-जैसी ही वह है न! तुम कैसे ही उसे रखो, वह कभी कोई शिकायत नही करने की? गुम हो जाय तो उसके गुमनेकी शिकायत नही। यदि हम उसकी परवाह करें तो उसमें इतनी शक्ति है जितनी और किसी यन्त्रमें नही। तकली हमारी हलचलका, हमारे आदोलनका राम-नाम है। कहते है कि मोक्ष वेदो पर खडा है। तब जिनकी पहुच वेदोतक नही है वे मोक्षतक कैसे पहुचने लगे? उस समय सतोने राम-नामका प्रचार किया। दो अक्षरोका शब्द, पर उसमें कैसी शक्ति! घर घर नामका प्रचार हुआ और भक्ति-भावकी बाढ आने लगी। हनुमानकी एक बात कहते है। वह कूदकर लकापर चढ गये, पर देखा तो उतरनेके लिए जगह नही! रातभर हवामें भटकते रहे। सारी लका राक्षसोकी। वहा जगह कहा मिलनेको थी? इतनेमें भटकते-भटकते एक मकानमेसे राम नामका स्वर सुन पडा। सुनते ही कितना आनद हुआ हनुमानको। ताली बजाकर नाच उठे और पुकार उठे—'मिल गई, मिल गई, मेरे अधिकारकी जगह।' यही जगह मिली, इसीलिए हनुमान आगेका पराक्रम दिखा सके, नही तो सारी छलाग व्यर्थ जा रही थी।

तकली, देश-सेवाके पथिकको ऐसी ही अधिकारकी जगह है। जिस घरमे वह दीख पडे वहा नि शक प्रवेश कर जाओ और चना चबेनामें साथ हो जाओ। वहा प्रवेश किया कि तुम्हे दीख पडेगा कि तुम चक्कर काटकर अपने ही घरमे आ गये। सख्या चाहे जितनी छोटी हो किंतु यदि उसका गुणक बडा हुआ तो गुणाकार बडा हो ही जाता है। तकली छोटी-सी है किंतु वह करोडोके गुणक बननेके लिए सुलभ है। यह उसका सामर्थ्य है।

आज तो तकलीके पीछे एक मत्र भी बन गया है। मत्रके मानी साहित्यकी की बकभक नही है। मत्रके मानी है तपश्चर्याके पेटमें निवास करनेवाली मूल वस्तु। तकलीके लिए अनेकोने खूब तपश्चर्या की। बेलगांव जेलमें काका (कालेलकर) साहबने तकलीके लिए ग्यारह उपवास किये। यरवदा-जेलमे

कोमलवयके दाडेकरने बाईस उपवास किये। मेरे भाईने पेटका आपरेशन होनेपर भी पड़े-पड़े तकलीपर १६० तारोकी एक लट्टी कातनेका नियम टूटने नही दिया। बापूका बाया हाथ प्राय निरुपयोगी होगया है तब भी तरुण विद्यार्थीको लज्जित करनेवाले उत्साहसे वे अपने बाय हाथसे यह प्रयत्न करते रहते है कि आधे घटे में तकलीकी एक अमुक गति होनी चाहिए।

मनुष्य प्राणीको अर्द्धहत्याकी आदत लग गई है। जानवरोको मारना प्रारभ करके हमने आधी सृष्टि मार डाली, अस्पृश्यादि जातिया निर्माण करके आधी मनुष्य-जाति मार डाली, स्त्रियोको पुरुषोसे अलग करके कुटुबोको आधा निरुपयोगी कर दिया और बाए और दाएका भेद करके हमने अपना आधा अग मार डाला। अर्जुनको यह बात सहन नही हुई थी। उसका प्रण था कि यदि मुझे दोनो हाथोसे धनुष चलाना न आया तो मै धनुर्धारी कैसा ? गीतामें भगवानने अर्जुनसे कहा है कि "निमित्तमात्र" हो। परतु उसके साथ 'सव्यसाचिन्'का विशेषण लगाया है। निमित्त मात्र होके मानी है कि दोनो हाथोसे काम करे। प्रभुके हाथका शस्त्र बन रहना साधारण बात नही है। जो अपनी सपूर्ण शक्तिका उपयोग करेगा वही प्रभुके हाथका शस्त्र बन सकेगा। वह मुरली, अपना अहभाव ही भूल गई। जली, बदनके आरपार छेद होगये, उसी दिन प्रभुका चुबन नसीब हुआ। सौ फीसदी काम करनेका व्रत लेनेवाले ही सच्चे निरहकारी है। कम काम करके प्रभुकी सहायता मागनेवाले सब अहकारी है।

ह० से० ११ मई, १९३५

६—तिल-गुड लो, मीठा बोलो

गत वर्ष ता० २५ दिसबरको, अर्थात् महात्मा ईसाकी पुण्यतिथिको, मै यहा आकर प्रस्थापित हुआ। मेरे मन, इस वर्ष भरमें मै कुछ भी नही कर पाया। हमने हजारो वर्षोतक हरिजनोपर जो जुल्म किये है, वे यदि तराजूके एक पलड़ेपर रक्खे जाय, और दूसरे पलडेपर हमारी सेवा रक्खी जाय, तो वह 'शून्य'के बराबर ही रहेगी।

हम स्वयं कायर, शूद्र, असमर्थ और अत्याचारी हैं। हम तो अभी अपना कार्य प्रारम्भ करना है। इसीलिए आज मकरसंक्रांति त्यौहार मनाया जा रहा है। "तिल-गुड़ लो और मीठा बोलो।" मीठा बोलना कम-से-कम है, जो मनुष्य कर सकता है। कुछ न दे, परन्तु मीठा तो प्रत्येकको बोलना ही चाहिए। मैंने भी मीठा बोलनेके सिवा वर्षभर कुछ नहीं किया। मुझसे पहलेसे, लगभग ४० वर्षसे, महात्माजीने हमें क्या सिखाया? हमें मीठा बोलना सिखाया। 'हरिजन' के मीठे नामका शोध लगानेसे ही, उन्होंने अपनी मीठी वाणीका आरम्भ किया। मेरी यह श्रद्धा है कि मन्त्रसे साप उतर जाता है। 'हरिजन' शब्दमें गुथे हुए मन्त्रने परिस्थितिमें कितना अंतर पैदा कर दिया! सब प्रांतोंसे पिछड़ा हुआ मद्रास, जहां अछूतको २८ फीट दूर खड़ा किया जाता है और जहां उसकी छायामें भी छूत मानी जाती है, वहां भी इस मन्त्रकी मिठासका प्रभाव दीख पड़ता है।

जिस देशके पुरुष इतने पीछे हों, वहांकी स्त्रियां कितनी पिछड़ी होंगी? परंतु जब गुरुवायूरके मंदिरके द्वार अछूतोंके लिए खुले रहनेके विषयमें मत लिये गए, तब १००० स्त्रियोंने मत दिया कि वह मंदिर हरिजनोंके लिए खोल दिया जाय। यही तो महामन्त्रका प्रभाव है।

जब हम हृदयसे मीठा बोलना सीखने लगते हैं, तब हमारा व्यवहार भी मीठा होने लगता है। इसी तरह मैंने अभी कुछ भी नहीं किया, मेरी सेवाका अभी श्रीगणेश भी नहीं हुआ, तो भी मैं तुम्हें यह विश्वास दिलाता हूं कि मेरा तुमपर प्रेम है। मैंने भेद-भाव नहीं रखा। मेरी मां, यद्यपि पुराने जमानेकी थी, परंतु उन्हें अस्पृश्यता रुचती न थी। मेरा जन्म असल ब्राह्मण-परिवारमें हुआ है। आज ब्राह्मण होना पापरूप हो गया है। तो भी मुझे शर्म नहीं मालूम होती। राम तो सब ओर रम रहा है। भेद-भावका अभाव, यह मेरी कमाई नहीं है। यह तो मां 'गीता' का प्रसाद है। आज भी मुझे, 'काली कमली' ओढे और लंगोटी लगाये हुए, ईंटपर महारूपमें खड़ा हुआ 'नारायण' दीख पड़ता है। यही क्यों, जब गांवके छोटे-छोटे हरिजन-बालक, मेरी कुटियाके पास आकर ऊधम करते हैं, गड़बड़ मचाते हैं, तब मुझे ऐसा मालूम होता है,

कि स्वय भगवान विट्ठल आकर मेरे साथ छेड-छाड कर रहा है। उन बालक-बालिकाओमें मुझे प्रत्यक्ष नारायण दीख पडता है। मैं तुम्हे यह कैसे बताऊ कि तुम मुझे कितने प्यारे हो।

ह० से० : फरवरी, १९३५

७—हमारी मूर्ति-पूजा

जो सब ओरसे तुच्छ माना जाता है, जिसके न स्थान होता है न सम्मान, जिसकी अवहेलना, जिसका तिरस्कार दुनिया करती है उसे भगवान अपने हाथों लेता है। उसे वानर चाहिए, ग्वाले चाहिए, निरभिमानी मावले चाहिए। परतु अब आप मावले नही रहे। हम बडे है, महाशय है। ईश्वरको यह नहीं चाहिए। जिन्हे गालिया मिल रही है, जो परित्यक्त है, ऐसे चुने हुए लोगोको लेकर भगवान अपना काम कर लेगा। यदि हम चाहते हो कि प्रभुका कार्य हमारे हाथो हो, तो—

करी मस्तक ठेंगणा। लागे सताच्या चरणा॥

यानी, "मस्तक नीचा करो, इतना नीचा कि वह सतोके चरणो पर जा लगे—" यह हमें सीख लेना चाहिए। जो वर्षा हो रही है, उसे रोकनेके बजाय उसका उपयोग करना चाहिए।

कई बार मेरे मनम आया कि मै गावोम घूमता फिरू। जेलसे छूटते समय भी यही विचार था। परतु आज तो परिस्थिति ही भिन्न है। मुझे उसका भी दुख नही। जो स्थिति प्राप्त होती है, उसमें मेरे आनदका निवास होता है। मेरे पैरोको गति कब मिलेगी, कह नही सकता। एक बार गति मिली कि वह ठहरेगी, एसा भी नही दीखता।

गावोम हमारे व्यक्ति घूमते रहने ही चाहिए। अस्पृश्यता-निवारण धार्मिक हलचल है। वह कोने-कोनेमें पहुचनी चाहिए। गाधीजी देश भरमें घूम लिये—इतना ही काफी नही। हजारो उस कामको अपने कधोपर ले लें। व्याख्यान नही, आहुति दीजिए।

गावोकी जनता महादेव है—वह स्वयभू महादेव है। वह गावो हीम

रहेगा। यदि तुम इस महादेवके पूजक हो तो तुम्हें उसके पास जाना चाहिए। बीस-बीस गाव ले लिये और लगातार घूमनेकी धूम मचा दी। भक्तसे जब भगवान् लक्ष्मीनारायणके मदिरकी एक हजार प्रदक्षिणा करनेके लिए कहा जाता है तब उसमें भक्तको कुछ अनुचित नहीं मालूम होता। तो फिर जनतारूप महादेवके पूजनमें भी भक्तका वह उत्साह क्यों न होना चाहिए? देवताकी एक प्रदक्षिणा करके भक्त एक बार देवताका दर्शन करता है और फिर दूसरी बार प्रदक्षिणाके लिए चल देता है। फिर दर्शन, फिर प्रदक्षिणा, यही उसका क्रम होता है। जनसेवकोंको भी चौदह दिनोंमें चौदह गाव घूमने चाहिए। पद्रहवे दिन प्रधान केंद्रमें अपनी जानकारी देनी चाहिए। और फिर दक्ष होकर प्रदक्षिणापथमें लगना चाहिए। भक्त जब प्रत्येक परिक्रमामें प्रभु-मूर्तिकी ओर देखता है, तब उसके हृदय पर मूर्ति खिचती जाती है, हृदयपर जमती जाती है, उसका 'स्वरूप' ध्यानमें आता जाता है। स्वरूप ध्यानमें आते ही यह समभमें आता है कि इस देवताकी भक्तिका पथ क्या है, पूजाकी सामग्री क्या है। उस समय यदि मैं भक्त होऊं तो देवतासे एक रूप हो जाता हू। मेरा हृदय देवताके हृदयसे मिल जाता है। तभी देवताकी कृपा होती है, उसका अनुग्रह होता है।

लोक-सेवा हमारी मूर्ति-पूजा है। २-२५ गावोंका समूह हमारा महा-मदिर है। गावोंमें क्या-क्या है, उसकी हम फेहरिस्त बना ले, मनपर भी, कागज पर भी। फेहरिस्त हम जन-सेवकोंको दे दे, वे देवताका स्वरूप समझ ले। जान ले, वह दिगबर होगया है, धूल लिपट रही है, सिरसे पानी बहता है, केवल बैल ही उसके पास सपत्ति रह गई है और जगलका निवास। जनसेवक जान लें कि देवताका स्वरूप क्या है, चेहरा कैसा है भाव कौन-से हैं, उसकी रुचि और अरुचिकी वस्तुए क्या हैं और उसका नैवेद्य क्या हो गया है और उसपर कौन-से पुष्प चढते हैं। परिचय हुए बिना पूजा न बनेगी। ऐसा न करनेपर शिवपर तुलसी होगी, विष्णुपर बेल-पत्र! देवपूजामें जल्दबाजी नही चलती। तुम्हें शीघ्रता हो, पर देवताको जल्दी नहीं पडी। वह शातिका अवतार है। उसपर इकट्ठा घडा उडेलनेसे काम नही चलेगा,

उसे तो बिंदु-बिंदुकी चाह है। एकदम उडेलनेकी अपेक्षा वह तो सतत धारा जारी रखनेसे ही प्रसन्न होता है।

ह० से०: ६ अप्रैल, १९३४

८—मृत्युरूपी वरदान

सचमुच मृत्यु ईश्वरकी ही देन है। जब हमारे निकटतम नातेदार, मित्र, कोई भी हम दुखोंसे नही बचा पाते, तब वही छुटकारा देती है। मृत्युमे जो दुख माना जाता है, वह वास्तवमे जीवनका दुख है। रोगादिकसे होनेवाला दुख मृत्युका नही जीवनके असयमका फल है। मृत्यु तो उनसे हम छुटकारा दिलानेवाली है। मृत्युका उनसे सबध नही है।

अत मृत्युके सिर व्यर्थ मढे जानेवाले इस शारीरिक दुखको बाद दे दिया जाय तो और दो दुख बाकी बच जाते है। एक पूर्व-पापोकी स्मृतिसे होनेवाला, दूसरा निकटस्थ जनोके विछोहकी आसक्तिसे होनेवाला। पहलेके लिए मृत्यु कैसे जवाबदेह है? वह जीवनके पापोका फल है। दूसरा मोहका है। यदि हमारा प्रेम सच्चा हो और सेवाकी तडपन हो, तो देह त्यागनेसे हम मित्रोसे दूर नही जानेके, बल्कि निकट पहुचेगे—ठेठ उनके भीतर प्रवेश पायगे। देहका परदा मौजूद रहते किसी तरह भी हम इतने अदर नही जा सकते थ। कितनी ही गहरी सेवा हो वह ऊपरी ही होती है। देहका परदा दूर हो जानेसे अब हम दूसरेकी अतरात्मामे घुलमिलकर उसकी सेवा कर सकते है। पर सेवा करनी हो तबकी यह बात है। अर्थात् इसके लिए निष्कामता चाहिए।

और एक दुख बाकी बच जाता है। पर वह मृत्युका नही हमारे अज्ञानका है। मृत्युके बाद क्या होगा, कौन जाने? हमारे मनकी सद्भावनाके विरुद्ध मृत्युके बाद कुछ होनेवाला नहीं है और कुवासना ही हो, तो जो कुछ बुरा होगा, यह उस कुवासनाका ही फल होगा—यदि ऐसी श्रद्धा, ईश्वरकी न्यायबुद्धिपर, हो तो वह काल्पनिक भय टल जायगा।

साराश, कुल दु ख चार है—

(१) शरीर-वेदनात्मक, (२) पापस्मरणात्मक, (३) सुहृन्मोहात्मक, (४) भावी चिंतात्मक और उनके चार ही उपाय हैं क्रमानुसार—

(१) नित्यसयम, (२)धर्माचरण, (३)निष्कामता, (४)ईश्वरमे श्रद्धा।

मृत्युका निरतर स्मरण रखना, बुद्धिमे मरण-मीमासा द्वारा निशकता लाना और रोज रातको सोनेसे पहले मरणाभ्यास करना, यह तिहेरी साधना करते रहना चाहिए। पहला गीताके १३वें अध्यायमे ज्ञान-लक्षणमे वर्णित है। उसपर ज्ञानदेवकी व्याख्या सुस्पष्ट है। दूसरा दूसरे अध्यायके शुरूमे ही है। तीसरा आठवें अध्यायमें है।

सर्वोदय १९४१

९—नैष्ठिक ब्रह्मचर्य

मनुष्यजीवन अनुभवका शास्त्र है। उस अनुभवकी बदौलत मनुष्य-समाजका काफी विकास हुआ है। किंतु हिंदू-धर्मम उस अनुभवका शास्त्र रचकर एक विशिष्ट साधना जारी की, जिसे ब्रह्मचय कहते हैं। अन्य धर्मोमें भी सयम तो है ही, पर उसे शास्त्रीय रूप देकर हिंदू-धमने जिस प्रकार उसके लिए शब्द बनाया वैसा शब्द अन्यत्र नही पाया जाता। छोटा रहते वृक्षको अच्छी-से अच्छी खादकी जरूरत होती है। यों तो पोषण जन्म भर चाहिए, पर कम-से कम बचपनमे तो वह सबको मिलना ही चाहिए। इस दृष्टिसे हिंदू-धर्मने ब्रह्मचर्य आश्रमको खडा किया। पर आज मैं उस आश्रमके सबधमें नही, ब्रह्मचर्य-वस्तुके सबधम कहनेवाला हू। अपने अनुभवसे मेरा यह मत स्थिर हुआ है कि यदि आजीवन ब्रह्मचर्य रखना है तो ब्रह्मचर्यकी कल्पना अभावात्मक (Negative) नही होनी चाहिए। विषय सेवन मत करो, यह ना अभावात्मक आज्ञा है, इससे काम नही बनता। सब इंद्रियोकी शक्तिको आत्मामें खर्च करो, ऐसी भावात्मक (Positive) आज्ञाकी आवश्यकता है। ब्रह्मचर्यके सबधमें, यह मत

करो, इतना कहकर काम नही बनता। यह करो, कहना चाहिए। ब्रह्म अर्थात् कोई भी बृहत् कल्पना। कोई मनुष्य अपने बच्चेकी सेवा उसे परमात्म-स्वरूप समझकर करता है, और यह इच्छा रखता है कि उसका लडका सत्पुरुष निकले, तो वह पुत्र ही उसका ब्रह्म हो जाता है। उस बच्चेके निमित्तसे उसका ब्रह्मचर्य पालन आसान होगा। माता बच्चेके लिए रात-दिन कष्ट सहती है फिर भी अनुभव करती है कि उसने बच्चेके लिए कुछ नही किया। कारण, बच्चेपर उसका जो प्रेम है उसकी तुलनामें यह जो कष्ट उठाती है वह उसे बहुत अल्प मालूम होता है। उसी प्रकार ब्रह्मचारी मनुष्यका जीवन तपसे—सयमसे—ओत-प्रोत रहता है। पर उसके सामने रहनेवाली विशाल कल्पनाके हिसाबसे सारा सयम उसे अल्प ही जान पडता है। इद्रिय-निग्रह मैं करता हू, ऐसा कर्तरि प्रयोग न रहकर इद्रिय-निग्रह किया जाता है। हिंदुस्तानकी दीन जनताकी सेवाको ध्येय बनानेवालेके लिए वह सेवा उसका ब्रह्म है। उसके लिए वह जो करेगा वह ब्रह्मचर्य है। सक्षेपमे कहना हो तो नैष्ठिक ब्रह्मचर्य पालनेवालेकी आखोंके सामने कोई विशाल कल्पना होनी चाहिए तभी ब्रह्मचर्य आसान होता है। ब्रह्मचर्यको मै विशाल ध्येयवाद और तदर्थ सयमाकरण कहता हू। यह ब्रह्मचर्यके सबधमे मैने मुख्य वस्तु बतलाई। दूसरी एक बात कहनेको बच जाती है, वह यह कि जीवनकी छोटी-छोटी बातोमे भी नियमनकी आवश्यकता होती है। खाना, पीना, बोलना, बैठना, सोना इत्यादि सब विषयोमें नियमन चाहिए। मनचाही चाल चल और इद्रिय-निग्रह साधे यह आशा व्यर्थ है। घडेमे तनिक-सा छेद हो तो भी वह बेकार हो जाता है। उसी प्रकार जीवनमे छिद्र नही होना चाहिए।

ग्राम-सेवा-वृत्त ४-८

१०—सूत्र-मनन और पुराण-श्रवण

कागज तपा हुआ मिलता है। एक ही ओर लिखना रहता है, छपे हुए हाशियेसे बाहर जाना नही है। हर कागजका सिरा—तिहाईसे भी

ज्यादा—जेलकी मुहर ले लेती है। इतनी मर्यादामें रहकर पूरे समाचार लिखनेकी दो युक्तियां है —(१) सूक्ष्माक्षर और (२) स्वल्पाक्षर। पहलीके लिए तेज नजर और कंजूस दिल चाहिए। यहा दोनोंका अभाव है। तब बाकी रही दूसरी युक्ति, उससे खूब काम लिया जा सकता है। स्वल्पतम कहिए कम-से-कम, अर्थात् शून्याक्षरोंमेंसे अनंत अर्थ दिया जा सकता है। मैं यह सदा ही करता हूं। पर बहुतोंके लक्ष्यमें यह नहीं आता। वे कहते हैं कि मैं कुछ भी लिखता-लिखाता नही हूं। मैं कहता हूं कि मैं अनंत लिखता हूं, शिकायत करनेवाले लोग समझते कैसे नहीं हैं?

स्वल्पमतको जाने दीजिए। पर स्वल्पाक्षरोंमें अपार अर्थ भरनेके कुछ उदाहरण साहित्यमें हैं। इनमें भगवद्गीता सर्वपरिचित उदाहरण है। गीतामें भी बहुत विस्तार ऐसा है कि जो सक्षिप्त हो सकता है; पर गीता तो गीता ही जो ठहरी। गीतामें गानेवालेके पसदके अलावा और ठेका बार-बार आना ही ठहरा। लेकिन योग सूत्रोंका उदाहरण इस सबधमें आदर्श कहा जा सकता है। कुल १९५ सूत्रोंमें चित्त-वृत्ति-निरोधका सपूर्ण शास्त्र कह डाला गया है। इतने अल्पाक्षरोंमें पतजलिने अपना सारा जीवन भर दिया। बाईससौ वर्षोसे यह छोटा मणि-दीप अपने मूल्यके तेजमें ज्योंका-त्यों प्रदीप्त है।

इससे विपरीत, पुराणोंकी वृत्ति है। उस कहावतके अनुसार कि "खोदा पहाड, निकली चुहिया" पुराणोंका चिंतन विहित नही है, उसका श्रवण विहित है। अर्थात् सिर्फ सुनने-सुननेसे काम है। याद रखनेकी जिम्मेदारी नही। उलटे, जितना भुला सक उतना खुशीसे और जरूर भुला दे। इतनेपर भी कुछ सस्कार मनपर रह ही जायगे। वही उसका काम है। बहुजन-समाजको, कोई कष्ट दिये बिना, सस्कार पहुचानेके लिए पुराणोंका जन्म है। इन दिनों मैं खाडण (रुई निकियानेका एक प्रकार) करते-करते समाजवादका श्रवण करता हूं। सर्व-सामान्य समाजवादी साहित्यकी शैली पुराणसे मिलती-जुलती है। भारवत्ता और स्वल्पसारत्व, पुनरुक्तिकी अपार शक्ति और समाज-सेवाकी उतनी ही तडफडाहट समाजवादी साहित्य-

की यही विशेषता है। इस सबधमे संस्कृतके पुराण ही उसकी समता कर सकते हैं। समाजवादी साहित्यके इस गुणके कारण बुद्धिपर बिना कोई जोर पडे समाजवादका मुझे ज्ञान मिलता रहता है। और खाडण निर्बाध—बे-खटके चलता रहता है।

ग्राम-सेवा-वृत्तसे

११—ग्राम-सेवा-शास्त्रकी एक कलम

देहातोकी सेवाके शास्त्रका दिन-पर-दिन चिंतन कर रहा हू। कई बाते निश्चित हो चुकी है, कई अभी होनी बाकी है। देहातोके सेवाके शास्त्रकी एक कलम (धारा) निश्चित है—"कम-से-कम आठ घटे शरीर-परिश्रम और वह भी आजकी परिस्थितिमे राष्ट्रीय जीवनमे पडे हुए गड्ढेको पाटने-के लिए।" और कलमें इसी तरह निश्चित हो रही है। एक-एकपर ही अमल करना शुरू कर दगे, तो निर्णय हो जायगा।

शरीर-परिश्रमके फलस्वरूप जडता पैदा होनेका डर मुझे नही है। विचारोकी भाप जब अदर-ही-अदर बद रहती है, तो चितनके लिए यथेष्ट अवकाश मिलता रहनेके कारण उलटे तीव्रता बढती है, ऐसा अनुभव हो रहा है। अगर योगपूर्वक काम किया जाय, तो शरीर कमजोर होनेका कोई सबब नही है। बल्कि बलवान् होनेके लिए यथेष्ट कारण है। आठ घटे काम करनेपर भी चार-पाच घटे अवातर सेवाके लिए बाकी रहते है। आठ घटेका शरीर-परिश्रम एक बडी भारी सेवा साबित होती है। वक्तृत्व उतना वाग्पटु नही है, जितना कि उदाहरण है। और अगर वक्तृत्वकी सहायताकी जरूरत ही रहती हो, तो ठीक उसी तरह रहती है जैसे कि एकके अकको शून्यकी होती है। उतनी मदद ली जा सकती है।

हिंदुस्तानका आजका सबसे मुख्य रोग आलस है। उसे महारोग भी कह सकते हैं। इसकी रामबाण औषध है उद्योगी मनुष्यका जीता-जागता उदाहरण और सगति। हम निरतर उद्योग करते रहकर उसे व्यवस्थित

हिसाबी वृत्तिसे सफल बनाकर, अपनी कृति और सगतिसे और साथ-साथ समझा-बुझाकर उस रोगका निवारण कर सकते है।

इसलिए (१) उद्योग चाहिए, (२) वह निरतर चाहिए, (३) वह हमारे जीवनमें घुल-मिल जाना चाहिए, (४) उसीपर हमारे जीवनका आधार होना चाहिए, (५) सारे बाहरी आधारका त्याग करना चाहिए, (६) उद्योग व्यवस्थित चाहिए और (७) उसकी सफलता सिद्ध होनी चाहिए।

जबतक इतनी बाते नही होगी, तबतक देहाती जनतामें हमारे कार्यका प्रवेश नही होगा, चाहे हमारे शरीरका भले ही हो।

लोक-सग्रह या सेवाकी गलत, मोहक और त्वरित कल्पनाके चक्करमें पडकर नाना उद्योग अथवा व्यवसाय अथवा ढोग या रग-ढग खड़े करनेसे एक क्षणके लिए लोगोकी भीड़ लगी हुई दीख पड़ेगी; लेकिन वह कार्य-कारी नही होगी।

ग्राम-सेवा-वृत्त मार्च, १९४१

१२—गांवका आरोग्य

उस दिन पवनारका एक लडका मुझे रास्तेमें मिला। बोला, "मुझे खुजली होगई है, कोई उपाय बताइए!" मैंने उसे थोड़ेमें बतला दिया, रोज सबेरे गायका ताजा मट्ठा पीयें जाओ, इससे तुम्हारा रोग जाता रहेगा। गावके मेरे सारे अनुभवका यह निचोड है कि गायका ताजा मट्ठा गावके लिए एक भारी तारक (तारनेवाला) तत्त्व है। इसके लिए मैंने एक सस्कृत सूत्र बनाया है—

तक्रं तारकम्

गावमें खाज-खुजली, दाद इत्यादि चर्म रोग छोटे बच्चोसे लगाकर बूढ़ोतक सबको दिखाई देते हैं। मुझे इसके जो कारण जान पड़े, वे उपाय-सहित बतलाता हू—

(१) गंदी रहन-सहन—और उसमें भी नहानेकी लापरवाही। रोज न नहानेवाले भी है। लेकिन जो रोज नहानेवाले है उनका भी नहाना

'नहाना' नहीं कहला सकता। नहाना तो पूरा नहीं होता, अलबत्ता 'भीगे बाल और हुए असनान' की कहावत पूरी होती है। सारे बदनको रगड़कर नहानेकी कौन कहे, पूरा बदन गीला तक नहीं करते। इसलिए घरमें परदे-दार नहानेकी जगह चाहिए जहा नगे होकर नहानेकी आदत और रिवाज डालना सिखाया जाना चाहिए। गुप्त अगोको अच्छी तरह मलकर धोना चाहिए। यह सार्वजनिक शिक्षणका विषय है।

(२) पीनेका साफ पानी—खासकर नदी किनारेके गावोमें और उसमे भी बरसातके दिनोमें लोग जो पानी पीते हैं वह बहुत ही गदा होता है। इसका साधारण-से-साधारण उपाय पानीको औटाकर पीना है। हरि-जन बस्तियोमे तो स्वच्छ पानी नसीब ही नही होता। हरिजनोंके पानीका सवाल बिल्कुल सामान्य भूतदयाका सवाल है। ऐसे मामूली सवालकी ओरसे जो समाज आखें मूदता है, वह स्वराज्यके लायक कैसे समझा जा सकेगा।

(३) भोजनकी कमी और भूलें—इस शीर्षकमें तीन मुख्य दोष आते हैं। इन्हें मैं गावके आहारके त्रिदोष कहा करता हूं—

(अ) भोजनमें भूल कहिए सडी-घुनी चीजोंका उपयोग। गावमें गारा और मछली जो मोल लेकर खाई जाती है, वह बहुत करके 'सड़ी' ही करनी चाहिए। गावोमें मजदूरोंको जो अनाज मिलता है वह प्राय. घुना और रद्दी मिलता है। देहातके महाजनोको इस ओर ध्यान देना चाहिए।

(आ) गावके आहारमें जो एक जबरदस्त कमी है, वह है रोजके भोजनमें तरकारीका अभाव। तरकारीके महत्वपर ज्यादा लिखनेकी जरूरत नहीं है, क्योंकि उसकी जरूरत तयशुदा चीज हो गई है। किसानोंकी खुराकमे किसी-किसी मौसममें तो तरकारीका नाम भी नहीं होता। कहनेवाले तो शाकमें चौगुनी तरकारी खानेकी वकालत पहुचते हैं। मैं यह नही कहूगा। उल्टे मैं तो मानता हू कि तरकारीकी मिकदार साधारणत कम ही ठीक है; तथापि हररोज आदमी पीछे दस तोला तरकारी तो किसानके भोजनमें जरूर ही होनी चाहिए।

वर्तमान जीवनमे आवश्यक कर्म-योगका स्थान रखकर ही सारा अध्ययन करना चाहिए; अन्यथा भविष्य जीवनकी आशामे वर्तमान कालम मरने-जैसा प्रकार बन जाता है। शरीरकी स्थितिपर कितना विश्वास किया जाता है यह प्रत्येकके अनुभवम आनेवाली बात है। भगवानकी हम सबपर अपार कृपा ही समझनी चाहिए कि हममें वह कुछ-न-कुछ कमी रख ही देता है। वह चाहता है कि यह कमी जानकर हम जागृत रहे।

दो बिंदुओंसे रेखाका निश्चय होता है। जीवनका मार्ग भी दो बिंदुओंसे ही विश्चित होता है। हम हैं कहा यह पहला बिंदु, हम जाना कहा है यह दूसरा बिंदु। इन दोनो बिंदुओंका तै कर लेना जीवनकी दिशा तै कर लेना है। इस दिशापर लक्ष रखे बिना इधर-उधर भटकते रहनेसे रास्ता तै नही हो पाता।

साराश, 'अल्प मात्रा सातत्य, समाधि, परमावकाश और निश्चित दिशा' यह गभीर अध्ययनका सूत्र है।

ग्राम-सेवा-वृत्तसे

१४—निसर्ग-सेवनकी दृष्टि

तुम सब आजकल निसर्गकी उपासनाका आनद ले रहे हो। हवाखोरी-की कल्पना निसर्गके पूरे-पूरे फायदे हासिल करने नही देती। इसलिए केवल उतनी ही कल्पना न रखते हुए उसके साथ-साथ दूसरी भी व्यापक कल्पना की जाय तो ऐसे स्थान हरि-दर्शन करा सकेंगे। पहाड, नदी आदि स्थानोम शिमला, महाबलेश्वर इत्यादि विलास-स्थानका निर्माण करनेम ईश्वरका अत्यत अपमान है। हमारे पूर्वज इस प्रकार अपमान नही करते थे। इसलिए निसर्ग देवताकी कृपासे उन्हे आध्यात्मिक लाभ होता था।

वैदिक ऋषि, उपनिषद्, गीता, योगशास्त्र, सतोके अनुभव इन सभीम एकात सेवन और निसर्ग परिचयके अनेकविध लाभोका वर्णन है। मनुष्य-समाजके अति प्राचीन ग्रथसे एक वचन यहा उद्धृत कर रहा हू।

'उपह्वरे गिरीणाम्। सगमे च नदीनाम्।' धिया विप्रो अजायत।—ऋग्वेद

इस मंत्रका ऋषि 'वत्स काण्व' है। छद गायत्री। देवता इद्र। इद्र याने परमात्मा। उसीको इस मत्रमे 'विप्र' याने 'ज्ञानी' कहा है। वह कहीं और कैसे प्रकट हुआ ('अजायत'—जन्म लिया, प्रकट हुआ) यह इस मत्रमें कहा है। "पर्वतोकी कदराओंमें और नदियोके सगमपर ध्यान-चितनसे ('धिया') ज्ञानीका जन्म हुआ।"

ज्ञानी पुरुषका जन्म किस स्थानपर हुआ और वहा क्या करनेसे हुआ, ये दानो बाते इस मत्रमें है।

ग्राम-सेवा-वृत्तसे

१५—अतिथिको देव क्यों मानें ?

जिन-जिनका हमपर उपकार है उन-उनके विषयमें देव-भावना रखकर उनकी सेवा करना और उनके ऋणसे चाहे थोडा ही क्यो न हो, मुक्त होना हमारा धर्म है। मातृ-देव, पितृ-देव और आचार्य-देव, ये तीन देव माननेकी बात तो आसानीसे समझमें आ जाती है। इनके हमपर बडे उपकार है। उसी प्रकार समाजका भी हमपर बडा एहसान है। हम समाजकी अनत प्रकारकी सेवा लेते ही रहते हैं। इसलिए समाजको देवता मानकर बदलेमें उसकी सेवा करना हमारा धम हो जाता है। हमें अपने घर आनेवाले अतिथिको समाजका एक प्रतिनिधि समझना चाहिए। अतिथिके रूपमे समाज हमसे सेवा माग रहा है, हमारी यह भावना होनी चाहिए। समाज केवल अव्यक्त है—अत 'अतिथि-देव'का अर्थ है 'समाज देवता'। समाज अव्यक्त है, अतिथि व्यक्त है। समाजकी अतिथि व्यक्त मूर्ति है। अतिथिकी भाति दीन, दुःखी, पीडित, रोगी इत्यादिकी सेवा करना भी समाज-पूजाका एक अग है। दरिद्रनारायण भी एक महान देवता है। उनका हमपर वह उपकार है जिसका कभी बदला नहीं चुकाया जा सकता।

ग्राम-सेवा-वृत्तसे

१६—भगवान दीनबंधु हैं

प्रभुको चिंता सबकी रहती है, पर विशेष चिंता उसे दीनोंकी होती है। और लोग प्रभुके भी हैं, पर दीन प्रभुके ही है। औरोंका आधार और भी होता है, किंतु दीनोंका तो आधार दीनदयाल ही होता है। समुद्रके बीच जहाजके मस्तूलसे उड़े हुए पछीको मस्तूलके सिवा और ठिकाना कहा हो सकता है? उससे हटकर वह कहा रह सकता है? दीनका चित्त प्रभुसे छूटे भी तो किससे लगे? इसलिए दीन प्रभुके कहलाते है, प्रभु दीनोका कहलाता है। दीनताका यही वैभव देखकर कुंतीने, उस समय जब उसे प्रभुने वर मागनेको कहा, दीनता मागी। कोई कह सकता है, कि प्रभु तो देता था कटोरीमें, पर अभागिनीने मांगा दोनेमे! फूटी कटोरीसे साबित दोना सौ दर्जे अच्छा।

कदाचित् कोई तार्किक बीचमे ही पूछ बैठे कि, तो फूटी कटोरीकी बात क्यो? मै स्पष्ट कहूगा कि नही, पानी पीनेकी दृष्टिसे तो साबित दोने और साबित कटोरीका मूल्य समान है, पर अदर पैठकर देखे तो वह घातकी कटोरी घातकी वस्तु बन जाती है। कटोरीकी छातीमें एक बडी धुकधुकी लगी रहती है—'मुझे कोई चुरा तो नहीं ले जायगा?' दोनोके लिए यह भय असभव है, अत वह निर्भय है।

फिर कटोरी और साबितका योग ही मुश्किलसे मिलता है। रामदासके शब्दोंमें, जो बडा सो चोर। ऐसे उदाहरण बहुत थोडे हैं कि आदमी बडा हो और उसपर प्रभु न्योछावर हो। लगभग ऐसे उदाहरणोका अभाव ही है, और जो कहीं और कभी दीख पडे, तो ऐसे कि जन्मका बड़ा, किंतु बड़प्पन खोकर अत्यत दीन होकर-भगवानके शरण पडा हुआ। उसी दिन प्रभुने उसे अपने निकट खींच लिया। राजा बलिने जब राजत्वका साज हटाकर मस्तक झुकाया, तब प्रभुने उसके आगनमें खडे रहना अगीकार किया। गजेंद्रको जबतक अपने बलका घमड रहा तबतक उसने सबकुछ करके देख लिया और जब गर्व गला तब उसे दीनबंधुकी याद आई। उसी दिनकी कथाका नाम तो 'गजेंद्र-मोक्ष' है। और अर्जुन? जिस दिन वह

अपनी जानकारीके उदरसे जीवित बाहर आया उस प्रभुने उसके सम्मुख गीता कही। नतीजा—प्रभुसे ही मतभेद हो गया। बड़ा आदमी जो ठहरा! प्रभुके मतसे उसके मतका गौरवादर क्यों न हो? किंतु बारह वर्षके वनवासने उसे 'महत्ता' से उतारकर 'दासता' की सेवा करनेका अवसर दिया। जब जानकारीपर प्रतिष्ठित मतके पाँव डगमगाने लगे तो उसने गिड़गिड़ाकर प्रभुके पाँव पकड़े। "मैं तो इंद्रियोंका गुलाम हूँ। और मेरा 'मत' क्या? मेरी तो इंद्रियाँ चाहे जैसा निश्चय करती हैं और मनमहल उसपर अपनी सही कर देता है। यहाँ धर्मको देख सकनेवाली दृष्टि कहाँ? प्यारे, मैं तुम्हारे द्वारका सेवक हूँ। मुझे सुझाओ।" तब भगवानकी वाचा फूटी—गीता कही जाने लगी। परन्तु गीता कहते-कहते भी *श्रीकृष्णने एक बात तो कह ही डाली—"बड़प्पनकी बात तो खूब करते* हो" गरज यह कि बड़े लोगोंमें यदि किसीको, प्रभुके प्यारे होनेकी, बात सूझी जाती है, तो वह उन्हींको, जो अपना बड़प्पन, अपनी महत्ता एक ओर रखकर छोटे-से-छोटा दीन, निराधार बन गया। तब वह प्रभुका आत्मीय कहलाया। जिसे जगतका आधार है, उसकी जगदाधारसे कैसी रिश्तेदारी? जिसके हाथमें जगतका आधार जमा नहीं रह गया, उसीका बोझ प्रभु अपने कंधोंपर ढोते हैं।

ह० से० : १९३४